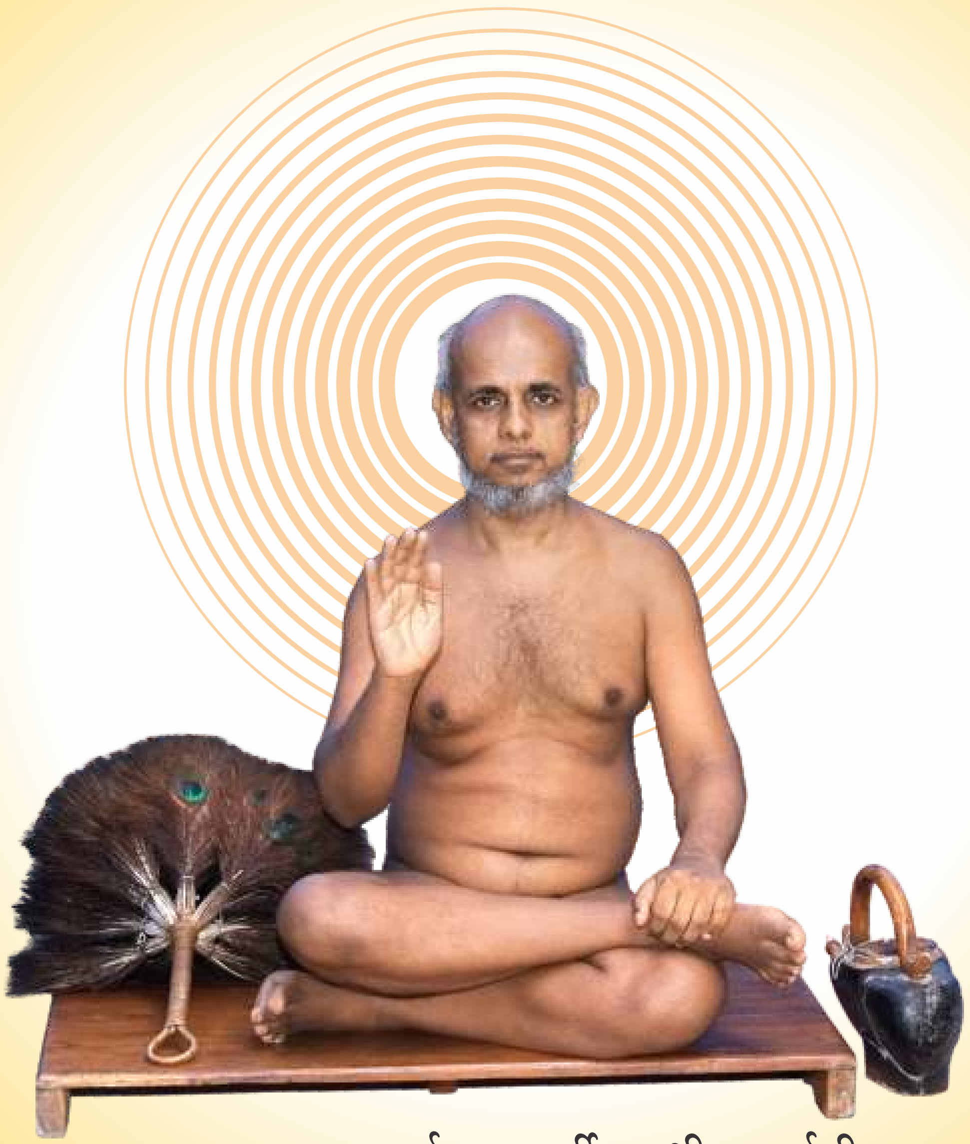

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र

स्तोत्रकार

परम पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दी जी महाराज

सम्पादक एवं अनुवादक

दरबारीलाल जी कोठिया

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर सरसावा (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

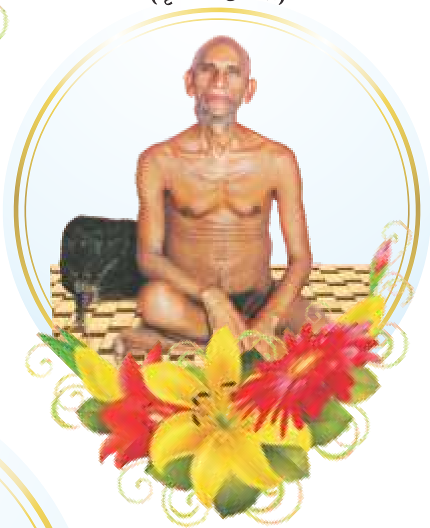

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

प्रकीर्णक पुस्तकमालाका सातवाँ पुष्प

तार्किकशिरोमणिश्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचित

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र

[हिन्दी-अनुवादादि-सहित]

सम्पादक और अनुवादक

न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जैन कोठिया, शास्त्री

(सम्पादक-अनुवादक—न्यायदीपिका, अध्यात्मकमलमार्तण्ड,

शासनचतुस्त्रिंशिका और आप्तपरीक्षा)

प्रकाशक

वीरसेवामन्दिर सरसावा, जिला सहारनपुर

प्रथमावृत्ति १००० प्रति | भाद्रपद, वीरनिर्वाण सं० २४[illegible]
विक्रम सं० २००६
अगस्त १९४९

श्रेय

इस ग्रन्थके प्रकाशनका प्रधान श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर गतवर्ष वीरसेवामन्दिर सरसावाको अनेक ग्रंथोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी महती सहायता प्रदान की है।

प्रकाशक

रॉयल प्रेस, सहारनपुर

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस महत्वके स्तोत्रको बहुत अर्सेसे अच्छे हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित करनेका विचार चल रहा था, पहलेसे इसका कोई हिन्दी अनुवाद नहीं था अतः न्यायाचार्य प दरबारीलाल जी कोठियासे उसे तय्यार कराकर उन्हींकी प्रस्तावनादिके साथ आज इसे प्रकाशित किया जा रहा है, यह प्रसन्नताका विषय है। आशा है पाठक इस सुन्दर पुस्तकसे तत्त्वज्ञान-विषयक यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा यत्न करेंगे।

इस स्तोत्रके कर्ता विद्यानन्दस्वामी क्या वे ही हैं जो तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंके प्रसिद्ध कर्ता हैं और वे स्तोत्र-गत-पुष्पिकाके अनुसार अमरकीर्तिके शिष्य थे अथवा अमरकीर्तिके शिष्य कोई दूसरे ही विद्यानन्द इस स्तोत्रके कर्ता हैं? यह एक प्रश्न है जिसे विद्वान् सम्पादकने अपनी प्रस्तावनामें हल करनेका यत्न किया है। आपने इसे उन्हीं सुप्रसिद्ध विद्यानन्दकी कृति तो माना है परन्तु उनका अमरकीर्ति-शिष्य होना स्वीकार नहीं किया और इसका कारण केवल इतना ही दिया है कि स्वयं विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिकादि किसी ग्रन्थमें अपने गुरुका नाम अमरकीर्ति नहीं दिया और न उत्तरवर्ती किसी आचार्यादिने ही उनके गुरुका वैसा नामोल्लेख किया है; परन्तु उनमेंसे किसीने गुरुका कोई दूसरा नाम भी तो उल्लेख नहीं किया, तब एक ग्रन्थमें यदि गुरुका नाम उल्लेखित मिलता है तो उसे बिना किसी स्पष्ट कारणके अन्यथा कैसे कहा जा सकता है? यह विचारणीय है।

इसके सिवाय, कर्तृत्व-विषयक भ्रान्तिका निवारण करते हुए अमरकीर्तिको १६वीं शताब्दीमें होनेवाले वादी विद्यानन्दस्वामीका जो गुरुभाई बतलाया है और उस गुरुभाईको गुरु समझकर विद्यानन्दको उनका शिष्य बतलाने तथा उनके साथ इस स्तोत्रकी रचनाका सम्बन्ध जोडनेमें प्रतिलेखकोंको अथवा अर्वाचीन विद्वानोंको भ्रान्ति हुई है ऐसा जो प्रतिपादन किया है वह कुछ समुचित प्रतीत नहीं

होता और न फुटनोटमें दिये हुए प्रमाणवाक्योंसे उसका कोई समर्थन ही होता है, क्योंकि विशालकीर्तिके शिष्यरूपमें वहाँ जिन विद्यानन्द-स्वामीका उल्लेख है वे वादी विद्यानन्द नहीं हैं। वादी विद्यानन्द उनके बाद देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य हुए हैं, जिनके एक शिष्य विशालकीर्ति और दूसरे (विशालकीर्तिके सधर्मा) अमरकीर्ति थे, और यह बात नगर-ताल्लुकाके शिलालेख न ४६ तथा वर्धमानसूरिके दशभक्त्यादिमहा-शास्त्रसे भी जानी जाती है। इससे अमरकीर्ति इन वादी विद्यानन्दके गुरुभाई नहीं थे, और तब उक्त भ्रान्ति घटित नहीं होती।

उक्त वादी विद्यानन्द इस स्तोत्रके कर्ता न होकर श्लोक-वार्तिकादिके रचयिता विद्यानन्द ही इसके कर्ता हैं, इस निश्चयका आधार एकमात्र स्तोत्रके साहित्यका श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंके साहित्य-के साथ प्रौढतादि-विषयक समतुलन बतलाया गया है और यह ठीक हो सकता है; परन्तु जबतक वादी विद्यानन्दका साहित्य सामने न आ जाए तबतक यह समतुलन एकाङ्गी और एक तरफा ही कहा जायगा। और वादी विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें इस स्तोत्रका स्पष्ट नामोल्लेख न होना कोई महत्त्व नहीं रखता, वह ऐसा ही है जैसा कि विद्यानन्दस्वामीके ग्रन्थोंमें इस स्तोत्रका नामोल्लेख न होना है। दोनों ही इस विषयमें समान हैं और इसलिये इस अनुल्लेख हेतुको केवल एक ही के साथ घटित करना ठीक नहीं जान पडता। इसके अलावा वादी विद्यानन्दकी विद्वत्ता और योग्यताका शिलालेखादिमें जिस असाधारणरूपमें कीर्तन किया गया है उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा इस कोटिके स्तोत्रका रचा जाना असम्भव है। यदि पुष्पिकामें अमरकीर्ति शब्द अमरेन्द्रकीर्तिका स्थानापन्न हो तो वह वादी विद्यानन्दके गुरु (देवेन्द्रकीर्ति)का वाचक भी हो सकता है।

अतः मेरी रायमें इस स्तोत्रका कर्तृत्व-विषय अभी विशेष विचारके लिये खुला हुआ है और उस तरफ विशेष अनुसंधान-कार्य होना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख्तार

देहली, ता. १७-८-१९४९ अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रस्तावना

ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र' है। यह स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम (आप्तमीमांसा)' स्तोत्र जैसी बड़ी ही सुन्दर और महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है और उसीके समान जटिल एवं दुरूह है। इसमें ग्रन्थकारने 'देवागम' स्तोत्रकी शैलीको अपनाया है और इसलिये इसके पद्योंमें उसका कितना ही साम्य पाया जाता है[१]। अनेक जगह देवागमकी टीका अष्टसहस्रीका भी

---

१ नीचे इन ग्रन्थोंके तुलनात्मक दो नमूने देखिये—

(क) 'तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥
दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥ —देवागम।

अन्ये नाऽऽप्ता विरोधाच्छ्रुतिरपि न ततः कोप्यय वेत्त्ययुक्तिः
सम्यङ् निर्णीति-बाधा-प्रमिति-विरहतः कश्चिदेवास्ति वन्द्यः।
नाशं दोषावृती यत्क्वचिदपि भजतो दृष्ट-हानि-प्रकर्षात्
निःशेषं हेम्नि यद्वन्मलमिति भवतो निष्कलङ्कत्वसिद्धिः ॥२॥'
—श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र।

(ख) 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सादृश्य उपलब्ध होता है[1]। उसके प्रासङ्गिक शब्द और अर्थको स्तोत्रकारने उसमें अपनी कलापूर्ण-प्रतिभा द्वारा चुन-चुनकर पद्योंमें गूँथा है। विद्यानन्दकी अन्य कृतियोंकी तरह यह कृति भी उनके अगाध पाण्डित्यसे भरी हुई है। प्रत्येक पद्यकी रचना बड़ी गम्भीर और सात्त्विक है। पढ़ते-पढ़ते पाठक जहाँ भक्तिमें लग होजाता है वहाँ उसके गम्भीर अर्थपर विचारमग्न भी हो जाता है। तार्किक विद्यानन्द जब अपनी तर्कनिष्णात बुद्धि-के द्वारा भगवान पार्श्वनाथ और उनके स्याद्वाददर्शनका गुण-कीर्तन करनेके उपरान्त उपान्त्य (२६वें) पद्यमें अपने आपको उनके चरणोंमें समर्पित करते हैं तब उनकी अनुपम भक्तिके उद्रेकका मनोहर दृश्य आँखोंके सामने मूर्तरूप होकर आ जाता है और मन ही मन यह विकल्प उठने लगता है कि तर्क और भक्ति-का इतना अधिक गजबका मेल कैसे? वह भक्तिपूर्ण और सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

—देवागम।

सूक्ष्माद्यर्थं समक्षोऽनुमिति-विषयत कस्यचिद्वाऽनलादिः
स त्वं निर्द्धूत-कर्म-क्षितिधर-निवहो दृष्ट-निःशेष सत्वः।
न्यायाऽबाध्याऽऽगमोऽर्हन्नसि खलु भवत सा ह्यनेकान्तदृष्टि
प्रत्यक्षाद्यैरबाध्या भवति न नियतैकान्तयुक्तिप्रभाभ्या ॥२॥'

१ देखो, प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० १६के फुटनोट श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रमें उद्धृत अष्टसहस्रीका गद्यांश और इसी ग्रन्थका श्लोक ६।

शरण्यं नाथाऽर्हन् भव भव भवारण्य-विगति-
च्युतानामस्माकं निरवकर-कारुण्य-निलय ।
यतोऽगण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्य तव पदम्
परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मी-ग्रहमिदम् ॥२९॥

इस तरह यह सम्पूर्ण स्तोत्र भक्ति और तर्कसे आप्लावित है और अत्यन्त उच्चकोटिकी स्तोत्र-रचना है। इसमें कुल पद्य ३० हैं। अन्तका (३०वाँ) पद्य तो अन्तिम वक्तव्य एवं उपसंहारके रूपमें है और उसमें 'विद्यानन्दमहोदयाय' पदके द्वारा स्तोत्रकारने अपना 'विद्यानन्द' नाम भी श्लेषरूपमें दिया है तथा शेष २९ पद्य ग्रन्थ-विषयके प्रतिपादनसे सम्बद्ध हैं—अर्थात् उनमें श्रीपुर-जिनालयके अधिपति भगवान पार्श्वनाथका आप्तरूपसे गुणस्तोत्र है। परीक्षा-द्वारा कपिलादिकमें अनाप्तता बतलाकर उन्हें इसमें आप्त सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागता, सर्वज्ञता तथा मोक्षमार्गप्रणेतृता जैसे असाधारण गुणोंसे उनकी विशिष्ट स्तुति की गई है। साथ ही उनके अनेकान्तमत (स्याद्वादशासन) की सब प्रकारसे प्रतिष्ठा-प्रस्थापना की गई है और यह स्पष्ट करके बतलाया है कि उसकी मान्यताके बिना किसी भी वस्तुतत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्येक पद्यमें क्या कुछ वर्णित है इसका विशेष परिचय पाठकोंको 'विषय-सूची' के देखनेसे हो सकेगा, जो ग्रन्थके साथमें लगाई गई है।

श्रीपुर और उसके अवस्थानपर विचार—

जैन साहित्यमें श्रीपुरके पार्श्वनाथका बड़ा माहात्म्य और अतिशय बतलाया गया है और उस स्थानको एक पवित्र एवं

प्रसिद्ध अतिशयक्षेत्रके रूपमे उल्लेखित किया गया है। निर्वाण-काण्डमे जिन अतिशयक्षेत्रोका उल्लेख है उनमे 'श्रीपुर' का भी निर्देश है और वहाँके पार्श्वनाथकी वन्दना की गई है[१]। विक्रमकी १३वीं शताब्दीके विद्वान्[२] और प० आशाधरजीके समकालीन 'महाप्रामाणिकचूडामणि' आ० मदनकीर्तिने भी अपनी 'शासन-चतुस्त्रिंशिका' में श्रीपुरके पार्श्वनाथका उल्लेख करके वहाँके लोक-विश्रुत अतिशयको प्रकट किया है। लिखा है कि 'वहाँ विपुल आकाशमे, जहाँ एक पत्ता भी क्षणभरको नहीं ठहर सकता श्रीपार्श्वजिनेश्वरका रत्नमय प्रतिबिम्ब अधर रहता है[३]।' मुनि-मदनकीर्तिसे कोई सौ वर्ष बाद (विक्रम सवत् १३८९ मे) हुए श्वेताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने भी अपने विविधतीर्थकल्पमें श्रीपुरके पार्श्वनाथके जिन्हे अन्तरिक्ष-पार्श्वनाथ कहा गया है, इस अतिशयका उल्लेख किया है और अपने समयमें प्रचलित एक कथाको भी दिया है[४]। वि० स० १७३१-३२ मे दक्षिणके प्रायः सभी तीर्थक्षेत्रोकी पैदल वन्दना करनेवाले मुनि श्रीशीलविजयजी

---

१ यथा-'पास सिरपुरि वदमि　　।'—निर्वाणकाण्ड।

२ देखो, लेखकद्वारा लिखित शासनचतुस्त्रिंशिकाकी प्रस्तावना।

३ यथा—'पत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातु' क्षणं न क्षम
　　तत्राऽऽस्ते गुणरत्नरोहणगिरिर्यो देवदेवो महान्।
　　चित्र नात्र करोति कस्य मनसो दृष्टः पुरे श्रीपुरे
　　स श्रीपार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससा शासनम्।'
　　　　—शा० च० श्लोक १।

४ देखो, सिंघीग्रन्थमालासे प्रकाशित 'विविधतीर्थकल्प' पृ० १०२।

ने भी अपनी 'तीर्थमाला' मे इस अतिशयक्षेत्रका वर्णन किया है¹ और प्रायः 'विविधतीर्थकल्प' जैसी ही एक श्रुत कथाको निबद्ध किया है। इस कथाको श्रीयुत् प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २२७) मे उद्धृत किया है, जिसका सारांश यह है कि—"प्राचीन कालमे रावणका भगिनीपति (बहनोई) खरदूषण राजा बिना पूजा किये भोजन नहीं करता था। एक बार वह वनविहारको निकला और मन्दिर भूल गया। तब उसने बालू और गोमयकी एक प्रतिमा बनाई और नमोकार मन्त्र पढ़कर उसकी प्रतिष्ठा करके आनन्दसे पूजा की। वह प्रतिमा यद्यपि वज्र-सदृश हो गई. परन्तु कहीं पीछे कोई इसका अविनय न करे, इसलिये उसने उसे एक जल-कूपमें विराजमान कर दिया और वह अपने नगरको चला आया। इसके बाद उस कुएँके जलसे जब 'एलगराय' का रोग दूर हो गया, तब अन्तरीक्षप्रभु (पार्श्वनाथ) प्रकट हुए और उनकी महिमा बढने लगी। पहले वह प्रतिमा इतनी अधर थी कि उसके नीचेसे एक सवार निकल जाता था, परन्तु अब केवल एक धागा ही निकल सकता है।" प्रेमीजीने वहाँ 'एलगराय' पर एक टिप्पणी भी दी है और लिखा है "जिसे राजा 'एल' कहा जाता है, शायद वही यह 'एलगराय' है। आकोलाके गेजेटियरमें लिखा है कि 'एल' राजाको कोढ़ हो गया था, जो एक सरोवरमें नहानेसे अच्छा हो गया था। उस सरोवरमें ही अन्तरीक्षकी प्रतिमा थी और उसीके प्रभावसे ऐसा हुआ था।"

१ 'शिरपुरनयर अन्तरीक पास, अमीभरो वासिम सुविलास।'

मुनि उदयकीर्तिने अपभ्रंश भाषामें एक 'निर्वाण-भक्ति' लिखी है जो हालमे प० परमानन्दजीको उपलब्ध हुई है और अभी अप्रकाशित है। उसमे उन्होंने भी श्रीपुरके पार्श्वनाथका अतिशय प्रदर्शित करते हुए उनकी वन्दना की है[१]।

इन सब उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि श्रीपुरके पार्श्वनाथका जैन साहित्यमे एक बडा महत्व है और उसका प्रभावक स्थान है। अब विचारणीय यह है कि यह श्रीपुर कहाॅ है—उसका अवस्थान किस प्रान्तमें है?

प्रेमीजीका अनुमान है[२] कि '*पासं सिरपुरि वंदमि* ।' पंक्तिमें उल्लिखित सिरपुरि (श्रीपुर) धारवाड जिलेका शिरूर गाॅव है जहाॅका शक सं० ७८७ का एक शिलालेख (इण्डियन ए, भाग १२, पृ० २१६ में प्रकाशित) हुआ है। स्वामी विद्यानन्दका श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र सम्भवतः इसी श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्य करके रचा गया होगा।" और यही आप मेरे पत्रके उत्तरमें अपने १२ अप्रेल १९४८ के पत्रमें भी लिखते हैं। क्या आश्चर्य कि आचार्य विद्यानन्दस्वामीका अभिमत श्रीपुर प्रेमीजीके उल्लेखानुसार धारवाड जिलेका 'शिरूर' गाॅव ही श्रीपुर हो। परन्तु बर्जेस, कजन, हण्टर आदि कई पाश्चात्य लेखकोंने वेसिङ्ग जिलेके 'सिरपुर' स्थानको एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ बतलाया है और वहाॅ

---

१ यथा—अरु वंदउं सिरिपुरि पासनाहु, जो अतरिक्ख छइ णाणलाहु।

२ 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० २३७।

प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर होनेकी सूचनाएँ भी हैं[1]। इससे सम्भव है कि यह मिरज जिलेका 'सिरपुर' ही विद्यानन्दका इष्ट श्रीपुर हो। श्रीपुरका 'सिरूर' होजानेकी अपेक्षा 'सिरपुर' होजाना ज्यादा सङ्गत मालूम पड़ता है।

शक सं० ६९८ (ई० सन ७७६)में पश्चिमी गङ्गवंशी नरेश श्रीपुरुषके द्वारा श्रीपुरके जैनमन्दिरके लिये दान दिये जानेका उल्लेख करनेवाला एक ताम्रपत्र मिला है[2]। विद्वान् पाठक जानते हैं कि गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय, जो जैनधर्मका स्पष्ट प्रभावक और समर्थक था और जिसने श्रवणबेलगोलकी छोटी पहाड़ीपर चन्द्रनाथस्वामीबसदिके निकट 'शिवमारन बसदि' नामकी एक बसदि बनवाई थी, इन्हीं गङ्गवंशी श्रीपुरुष राजाका पुत्र और उत्तराधिकारी था और यह ई० सन ८१०के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इसके बाद इसका उत्तराधिकारी इसका भतीजा (विजयादित्यका लड़का) राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम हुआ था जिसके राजगद्दीपर बैठनेका समय ई० सन ८१६ के लगभग है। आचार्य विद्यानन्द इन दोनों नरेशोंके राज्य-समयमें हुए हैं और इन्हींके राज्योंमें अपनी महान् कृतियाँ रची हैं[3]। अतः हमारा अनुमान है कि आचार्य विद्यानन्दका अभिमत श्रीपुर गङ्गराज्यके अन्तर्गत होना चाहिए और यह गङ्गराजा श्रीपुरुषके द्वारा सम्मानित श्रीपुर ही प्रतीत होता है। हमने अन्यत्र[4] बतलाया कि

---

१ यह मुझे बाबू ज्योतिप्रसाद जैन एम. ए., एल एल. बी. लखनऊसे मालूम हुआ है।

२ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ४, किरण १ पृ० १५८।

३, ४ देखो, लेखककी 'आप्तपरीक्षा'की प्रस्तावना।

विद्यानन्दका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः दक्षिणमें गङ्गवंशका गङ्गवाडि प्रदेश रहा है। यह गङ्गवाडि प्रदेश वर्तमान मैसूर राज्यका बहुभाग है और इसलिये स्तोत्रकारका इष्ट श्रीपुर मैसूर राज्यमे कहीं होना चाहिये, जहाँके पार्श्वनाथ प्रभुके अतिशययुक्त प्रतिबिम्बका गुणकीर्तन इस स्तोत्रमें किया गया है। विद्वानोंको उसकी पूरी खोज करनी चाहिये और उसकी स्थितिपर पूरा प्रकाश डालना चाहिये।

कर्तृत्व-विषयक भ्रान्ति और उसका निवारण—

इस स्तोत्रका एक संस्करण मराठी-टीका-सहित श्रीपात्र-केसरीस्तोत्रके साथ संयुक्तरूपमे आजसे कोई २६ वर्ष पूर्व वि० सं० १९७८ (ई० सन् १९२१)मे एक वार प्रकाशित होकर निकल चुका है। इस संस्करणके अन्तमें एक समाप्ति-पुष्पिका वाक्य दिया हुआ है और वह इस प्रकार है:—

"इति श्रीमदमरकीर्त्तियतीश्वरप्रियशिष्यश्रीमद्विद्यानन्दस्वामि-विरचित-श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र समाप्तम् ।"

इस पुष्पिका-वाक्यमें अमरकीर्ति यतीश्वरके शिष्य विद्यानन्दस्वामीको इस स्तोत्रका कर्ता प्रकट किया गया है। परन्तु तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक आदि प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमे अपने गुरुका नाम अमरकीर्ति यतीश्वर अथवा अन्य कोई नाम नहीं दिया और न उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके उल्लेखों एवं शिलालेखो आदिमे ही उनके गुरुका नाम उपलब्ध होता है। १६वीं शताब्दीमे होनेवाले वादी विद्यानन्द स्वामीके गुरु भाई—गुरु विशालकीर्त्तिके सधर्मा—अमरकीर्तिमुनि

भट्टारकाग्रणीका उल्लेख जरूर मिलता है[1]। हो सकता है कि इन्हीं गुरुभाई अमरकीर्तिका वादी विद्यानन्दको शिष्य बतलाकर उन्हें ही श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्रका कर्ता प्रतिलेखकने एवं अर्वाचीन विद्वानोंने भ्रान्तिसे समझ लिया हो और इसीसे वैसा उल्लेखित किया हो। नामसाम्यकी हालतमें ऐसी भ्रान्तिका होना कोई असम्भव भी नहीं है। और यह निश्चित है कि यह रचना वादी विद्यानन्द (१६वीं शती) की नहीं है और न उनकी कृतियोंमें इसे बतलाया है। उनकी कृतियाँ तो काव्यसार, बुद्धेशभवनव्याख्यान आदि ही बतलाई जाती हैं। अतः उक्त समाप्ति पुष्पिका-वाक्य अभ्रान्त प्रतीत नहीं होता।

इसके अलावा, इस स्तोत्रमें वाक्यविन्यास और प्रतिपादन-की वही शैली स्पष्टतया पाई जाती है जो विद्यानन्दके अन्य तर्क-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। सूक्ष्मता और गहराई भी इसमें वैसी ही निहित है जैसी अन्य कृतियोंमें है। विद्यानन्दका सूक्ष्म और अगाध पाण्डित्य और दार्शनिक प्रतिभा इसके प्रत्येक पद्य और उसके प्रत्येक पदमें उन्मुक्तरूपसे समव्याप्त है। अतएव यह ८वीं, ९वीं शतीके प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्दकी ही रचना है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं होना चाहिए।

---

१ "विशालकीर्त्तेः *श्रीविद्यानन्दस्वामीति* शब्दतः ।
अभवत्तनयः साधुर्मल्लिरायनृपार्चितः ॥

* * *

जीयादमरकीर्त्याख्यभट्टारकाग्रशिरोमणिः ।
विशालकीर्त्तियोगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविदः ॥" —दशभक्त्यादिम०।

है तो शीघ्र अन्वेषण-द्वारा इस महत्वके ग्रन्थरत्नका पता लगाया जा सकता है। विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है। आचार्य विद्यानन्दने तो अपने उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थोंमे इसके उल्लेख किये ही हैं। किन्तु उनके चार-सौ-पॉच-सौ वर्ष बाद होनेवाले वादी देवसूरिने भी अपनी विशाल टीका 'स्याद्वादरत्नाकर'मे इसका नामोल्लेख किया है और साथमें उसकी एक पंक्ति भी उद्धृत की है[२]। इससे इस ग्रन्थकी जहाँ प्रसिद्धि और महत्ता प्रकट है वहाँ १३वीं शताब्दी तक अस्तित्व भी सिद्ध है।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक—यह आचार्य उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) रचित तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल टीका है। जैनवाङ्मयकी उपलब्ध कृतियोंमें यह एक बेजोड़ रचना है और तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंमें प्रथम श्रेणीकी टीका है। भारतीय दर्शनग्रन्थोंमें भी इस जैसा ग्रन्थ शायद ही मिलेगा। यह मुद्रित हो चुका है, परन्तु शुद्ध और सुन्दर संस्करणकी खास जरूरत बनी हुई है।

३. अष्टसहस्री—यह स्वामी समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) स्तोत्रपर लिखा गया महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थ है। विद्यानन्दने अपने पूर्वज अकलङ्कदेवकी अष्टशतीके प्रत्येक पद-वाक्यको इसमें अनुस्यूत करके अपनी विलक्षण प्रतिभाद्वारा उसके मर्मको खोला है। यह ग्रन्थ भी मुद्रित हो चुका है और शिक्षाक्रममें निहित है।

---

२ देखो, स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३४६।

४. आप्तपरीक्षा (स्वोपज्ञटीका सहित)—जिस प्रकार स्वामीसमन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मङ्गलाचरणपद्यमे वर्णित आप्तको विषय बनाकर आप्तमीमांसा लिखी है उसी प्रकार आचार्य विद्यानन्दने इसी पद्यके व्याख्यानरूपमे आप्त-परीक्षा रची है और साथ ही उसपर स्वोपज्ञटीका भी लिखी है। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका एक विशिष्ट और अभिनव सस्करण लेखकद्वारा अनुवादित एव सम्पादित होकर वीरसेवा-मन्दिरसे शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

५. प्रमाणपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दकी मौलिक स्वतन्त्र रचना है। इसमे, दर्शनान्तरीय प्रमाणोके स्वरूपादिकी आलोचना करते हुए, जैनदर्शन-सम्मत प्रमाणोके स्वरूप, सख्या, विषय और फलका व्यवस्थापन किया गया है।

६. पत्रपरीक्षा—यह भी विद्यानन्दकी गद्य-पद्यात्मक कृति है। इसमें जैन दृष्टिसे पत्रका लक्षण स्थापित किया गया है और अन्यदीय लक्षणोमे दोष दिखाये गये हैं। यह है छोटी-सी, किन्तु महत्वकी कृति है।

७. युक्त्यनुशासनालङ्कार—यह स्वामी समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रपर रची गई मध्यम परिमाणकी सुन्दर एवं विशद टीका है।

८. सत्यशासनपरीक्षा—यह विद्यानन्दकी अन्तिम रचना जान पडती है, क्योंकि यह अपूर्ण ही उपलब्ध है। इसमे पुरुषा-

द्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है[1]। परन्तु १२ शासनोंमें ६ शासनोंकी पूरी और प्रभाकरशासनकी अधूरी परीक्षाएँ ही इसमे उपलब्ध होती हैं। प्रभाकरशासनका शेषांष, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्तशासनपरीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ भी विद्यानन्दके अन्य ग्रन्थोंकी तरह उनकी तर्कनिष्णात प्रतिभासे परिपूर्ण है और बहुत ही विशद है।

इस तरह अन्य रचनाओंमें यह विद्यानन्दके ९ ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय है। इनमे विद्यानन्दमहोदय और सत्यशासन-परीक्षाको छोड़कर शेष ७ ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं और जैन-साहित्यसंसारमें प्रसिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं।

ग्रन्थकारका परिचय और समय—

इस स्तोत्रके कर्ता आचार्य विद्यानन्दका यथेष्ट जीवन-परिचय देनेके लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है—न तो कोई उनकी गुर्वावली प्राप्त है और न उनके अथवा उत्तरवर्ती लेखकोंद्वारा लिखा गया उनका कोई जीवनवृत्तान्त उपलब्ध है। उनके माता-पिताका क्या नाम था ? वे किस कुलमे पैदा हुए थे ? उनके गुरु कौन थे ? आदि बातोंका परिचय प्राप्त करनेके लिये कोई स्रोत नहीं है तथापि विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

---

१ 'इह पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैतशासनानि चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-साख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्रभाकर-शासनानि तत्त्वोपप्लवशासनमनेकान्तशासनञ्चेत्यनेकशासनानि प्रवर्त्तन्ते।

—*सत्यशा० प्रारम्भि० प्र०*।

करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखों और उनके स्वयंके कार्यकलापोंसे इतना जरूर जाना जाता है कि आचार्य विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है प्रायः दक्षिणमें गङ्गराजाओंकी राज्यभूमि गङ्गवाडि प्रदेश रहा है और यह गङ्गवाडि प्रदेश वर्तमान मैसूर राज्यके अन्तर्गत था। अत विद्यानन्दकी जन्मभूमि और कार्यभूमि प्रायः मैसूर प्रान्त जान पडता है।

आचार्य विद्यानन्दने जिन ९ महान् दार्शनिक ग्रन्थोंकी रचना की है उनको देखकर कोई भी विचारशील यह अनुमान कर सकता है कि वे अखण्ड ब्रह्मचारी अवश्य रहे होंगे, क्योंकि अखण्ड ब्राह्म तेजके बिना इतने विशाल और सूक्ष्म पाण्डित्यपूर्ण एव प्रखर विद्वत्तासे भरपूर ग्रन्थोंका प्रणयन सम्भव नहीं है। स्वामी वीरसेन और जिनसेन जब अखण्ड ब्रह्मचारी रहे तभी वे धवला जयधवला जैसे विशाल और महान् ग्रन्थ बना सके हैं। विद्यानन्दने भी गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया मालूम नहीं होता और वे जैनमुनि होकर जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे ज्ञात होते हैं।

श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि आचार्य विद्यानन्द नाग्न्यके पूरे समर्थक थे और मुनिके लिये वस्त्रग्रहण एक मूर्च्छा (परिग्रह-पाप) मानते थे जिसका उसे सर्वप्रथम त्यागी होना चाहिये। 'उसके त्याग बिना वह निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता। जैनमार्ग तो पूर्ण नग्नताके आचरण और धारण करनेमें है'[१]। यह उनकी अन्य युक्तियोंमें एक समर्थन-युक्ति है। इससे स्पष्ट है कि वे नाग्न्यको कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे और जैन-

---

१ देखो, श्लोकवार्तिक पृ० ४६४ और ५०७।

मुनिमात्रके लिये उसका युक्ति एवं शास्त्रसे निष्पक्ष समर्थन करते थे। जब वे आहार (भिक्षा)के लिये जाते थे तो वे उसे रत्नत्रयकी आराधनाके लिये ही ग्रहण करते थे और इस बातका ध्यान रखते थे कि वह भिक्षाशुद्धिपूर्वक नवकोटि विशुद्ध हो[1] और इस तरह वे रत्नत्रयकी विराधनासे बचे रहते थे। कदाचित् रत्नत्रयकी विराधना हो जाती तो उसका वे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त ले लेते थे। इस तरह विद्यानन्द रत्नत्रयरूप भूरि-भूषणोंसे सतत आभूषित रहते थे[2] और अपनी चर्याको बड़ी ही निर्दोष और उच्चरूपसे पालते थे। यही कारण है कि मुनिसंघमें उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और आचार्यके महान् उच्च पदपर भी वे प्रतिष्ठित हो गये थे।

आचार्य विद्यानन्द केवल उच्च चारित्राराधक तपस्वी आचार्य ही नहीं थे, बल्कि समस्त दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी भी थे। वे वैशेषिक, न्याय मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनोंके मन्तव्योंको जब अपने ग्रन्थोंमें रखते और उनका समालोचन करते हैं तब उससे उनकी अगाध विद्वत्ता और सूक्ष्म गम्भीर पाण्डित्यका विशद परिचय मिलता है। जैन शास्त्रोंके विपुल उद्धरणोंसे उनका जैन शास्त्राभ्यास भी अपूर्व और महान् ज्ञात होता है। निःसन्देह उन्हे आगम ग्रन्थों और अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक ग्रन्थोंका विलक्षण अभ्यास था और वह किसी भी जैन विद्वान्के लिये स्पर्धाकी वस्तु थी। वे स्वतन्त्रचेता और सूक्ष्मप्रज्ञ होनेके अतिरिक्त

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ० ४६५।

२ 'स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रयभूरिभूषणः सततम्।'

—आप्तपरीक्षा टी० प्रश० पद्य ३।

वड़े उदार भी थे। उन्होंने श्लोकवार्त्तिक (पृ० ३५८)मे जातियोंकी व्यवस्था गुण-दोषोके आधारसे करके अपने उदार विचारोंका अनुपम परिचय दिया है। सक्षेपमें आचार्य विद्यानन्द न केवल तार्किक और स्तुतिकार ही थे, अपितु वे महान् सैद्धान्ती, अद्वितीय, वादी श्रेष्ठ कवि, योग्य वैयाकरण, प्रामाणिक व्याख्याता और सच्चे शासनभक्त भी थे। उनके वाद उन जैसा महान् तार्किक और सूक्ष्मप्रज्ञ भारतीय क्षितिजपर—क्रमसे कम जैनपरम्परामे तो—कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। वे अद्वितीय थे और उनकी कृतियाँ भी आज अद्वितीय वनी हुई है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके अन्तमें जो प्रशस्तिरूप पद्य दिया हुआ है[1] उसमे आचार्य विद्यानन्दने इस ग्रन्थकी रचनाके समय राज्य करनेवाले गङ्गवशी राजा शिवकुमार द्वितीयका श्लेषरूपमे उल्लेख किया है। इसी तरह आप्त परीक्षा[2], युक्त्यनुशासन[3] आदिमें शिवकुमारके उत्तराधिकारी गङ्गनरेश राचमल्ल (प्रथम) सत्यवाक्यका भी श्लेषरूपमें निर्देश किया है। इन दोनों नरेशो-का समय क्रमशः ई० सन् ८१० और ई० सन् ८१६ सर्वमान्य है। अतः आचार्य विद्यानन्द इन नरेशोंके समकालीन हैं। अर्थात् ई० सन् ७७५से ई० सन् ८४० तक इनका जीवन-समय सिद्ध होता है जैसा कि हमने आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें अनेक प्रमाणपूर्वक विस्तारके साथ वतलाया है। इति शम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
दीपावली २४७४

—दरवारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य)

१ 'जीयात्सज्जनताश्रयः *शिव* सुधा-धारावधान-प्रभुः' इत्यादि।

२, ३ देखो, इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंके '*सत्यवाक्य*' वाले पद्य।

विषय-सूची

पद्याङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
१	भ० पार्श्वनाथकी महानता और आश्रयणीयताका प्रतिपादन	१
२	कपिलादिक और श्रुतियोंमें आप्तता (निर्दोषपने) का अभाव और भ० पार्श्वनाथके आप्तताकी सिद्धि	३
३	सामान्य और विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि	६
४	समस्त पदार्थोंमें प्रत्यक्षतः अनेकान्तकी सिद्धि	९
५	वस्तुमें अनुमानसे अनेकान्तकी सिद्धि	११
६	द्रव्यका व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ और अनेकान्तकी सिद्धि	१३
७	पूर्वोक्तका विशेष स्पष्टीकरण	१५
८	भावाभावात्मक, एकानेकात्मक और तादृकअतादृकरूप वस्तुका प्रसाधन	१७
९	स्याद्वाद (अनेकान्त) शासनमें अर्थ-क्रियाका उपपादन	१९
१०	पूर्व पद्यमें उल्लिखित सप्तभङ्गीनयका विवेचन और स्पष्टीकरण	२१
११	स्याद्वादका स्वरूप	२३
१२	स्याद्वाद, सुनय और निक्षेपों-द्वारा वस्तुका यथार्थ प्ररूपण करनेसे भ० पार्श्वनाथ ही विद्वानोंके आश्रयणीय हैं	२५
१३	अनेकान्तमतमें जीवादि-पदार्थोंकी सुव्यवस्थाका प्रतिपादन	२७
१४	भ० पार्श्वनाथके वीतरागता, सर्वज्ञता और मोक्षमार्ग-प्रणेतृता गुणोंकी असाधारणताका समर्थन और उक्त गुणोंके कारण उन्हींके वन्दनीय होनेका कथन	२८

१५ देव कहलाना आदि आप्तताका कारण नहीं है, रागादि-
रहितपना आप्तताका कारण है . २९
१६ अन्योंके आप्त न होनेमें हेतु . ३१
१७ जैमिनिके निर्दोष और सर्वज्ञ न होनेके कारण उनके
द्वारा व्याख्यात अथवा प्रतिपादित श्रुतियाँ भी
आप्त नहीं हैं .. ३२
१८ श्रुतियोंकी अपौरुषेयताका निराकरण ... ३४
१९ ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खण्डन .. ३५
२० ईश्वरेच्छाके भी जगत्कर्तृत्वका खण्डन . ३७
२१ वस्तुको सर्वथा क्षणिक प्रतिपादन करनेवाले बुद्धके
मुक्तिकारणों और मुक्तितत्त्वकी आलोचना . . ३८
२२ कपिलाभिमत २५ तत्त्वों और तदभिमत मुक्तिकी
समालोचना .. ४१
२३ वेदान्तियोंके सन्मात्रतत्त्व और ब्रह्मकी आलोचना ४३
२४ प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक, अनिर्वचनीयतत्त्ववादी
वेदान्ती और तत्त्वोपप्लववादी बौद्धविशेषका खण्डन ४५
२५ पुनः विविध प्रकारसे अनेकान्तकी सिद्धि .. ४६
२६ भ० पार्श्वनाथके स्याद्वादशासनका सर्व कल्याण-
कारित्व-गुणवर्णन और उसका जयघोष .. ४७
२७ भ० पार्श्वनाथके तत्त्वोपदेशकका जयनाद ... ४९
२८ श्रीपुर-पार्श्वनाथका गुणकीर्तन और जयकार . ५०
२९ स्तुतिकारका भ० पार्श्वनाथके चरणोंमें भक्तिपूर्वक
आत्मसमर्पण ५१
३० स्तोत्रकारका उपसंहारात्मक अन्तिम वक्तव्य ... ५२

श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्रका पद्यानुक्रम

पद्य	नं०	पद्य	नं०
अन्ये नाऽऽप्ता विरोधात्	२	प्रतिभाते प्रतिभागिता-	२३
आलोकं चेत्प्रमाप्तु	१८	भागो भावादभाव-	२५
इच्छा वा नियतेतरा	२०	मदनं दुर्नय मर्गे	२२
एभिः श्रीपुरपार्श्वनाथ-	१०	यद्येवं याऽप्यदो	२४
एतोच्चैर्वाक् तव जिनपदा-	२६	यः श्रीपादं तवेश	१
जय जय जगती	२८	विद्भटतिशाय	२७
जीवः कर्माणि भावः	१३	शरणं नाथाऽर्हन्	२९
तत्तद्रूपाः पदार्थाः	८	सत्यार्थं क्षणिकं	२१
तदनेकान्तात्मक	५	सम्यक् न्यायमतो	१२
तावप्रत्यक्षमेव	४	शुम्भद्दुःखादिनिनिम-	१९
त्वदन्येऽप्यवादि-	१६	सूक्ष्मार्थः समतो-	३
देव ! श्रीपुरपार्श्वनाथ !	१४	स्यात्तादात्म्यगुणा	६
देव. श्रीमानशेष-	१५	स्यादस्ति स्वचतुष्टया-	१०
नश्यत्युत्पित्सु तावत्	७	स्याद्वादः स्वपराव-	११
नात्यक्षो जैमिनियाँ	१७	स्याद्वादे सप्तभंगी-	९

शुद्धि-पत्र

पृष्ठाङ्क	अशुद्ध	शुद्ध
३	अन्येनाऽऽप्ता	अन्ये नाऽऽप्ता
१५	ताद्भवति	तावद्भवति
२२	अवक्तयत्व	अवक्तव्यत्व
२५	न हो सकने	कथन न हो सकने
२८	विपुलज्ञान प्रभा-	विपुलज्ञानप्रभा-
३०	वताथ-वात्तु	वैताथ-वात्तु
३५	नियतेनैक-	नियतेनैंक-

तार्किकशिरोमणिश्रीमद्विद्यानन्दस्वामि-विरचित

श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

[हिन्दी-अनुवाद-सहित]

(स्रग्धरा)

यः श्रीपादं तवेश श्रयति सपदि सः श्रीपुरं संश्रयेत
स्वामिन् पार्श्वप्रभो त्वत्प्रवचन-वचनोद्दीप्र-दीप-प्रभावैः ।
लब्ध्वा मार्गं निरस्ताऽखिल-विपदमतो यत्यधीशैः सुधीभिः
वन्द्यः स्तुत्यो महांस्त्वं विभुरसि जगतामेक एवाऽऽप्तनाथः ॥१॥

पद्यार्थ—हे ईश ! हे पार्श्वप्रभो ! जो (भव्यजीव) आपके श्रीचरणोंका आश्रय लेता है वह आपके आगम-वचनरूप देदीप्यमान दीपकके प्रकाशद्वारा समस्त विपत्तियोंसे—दुःखों और बाधाओंसे—रहित (रत्नत्रय) मोक्ष-मार्गको प्राप्तकर शीघ्र ही श्रीपुर—मोक्षनगर—को पहुँचता है । अर्थात् आपके चरणोंकी उपासना करनेवालेको अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यादिरूप आत्मीक श्री (लक्ष्मी) की प्राप्ति होती है । अतएव हे स्वामिन् ! यतीशों—योगीन्द्रों और सुधियो—विद्वानों द्वारा आप वन्दनीय और स्तुत्य हैं—आपको बड़े-बड़े योगी तथा विद्वान् मस्तक झुकाकर प्रणामादि करते हैं । तथा आप महान् हैं —पूज्य हैं, ससारी जीवोंके स्वामी हैं और निश्चय ही अद्वितीय आप्तनाथ हैं—सर्वोच्च देव हैं ।

भावार्थ—आचार्य विद्यानन्दस्वामी श्रीपुरस्थ भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—हे पार्श्व प्रभु! आपके पवित्र चरणोंका जो सहारा लेता है—उपासना, वन्दना और आराधना करता है—वह आपके उपदिष्ट सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गपर चलकर सम्पूर्ण दु:खों-बाधाओंसे छुटकारा पाता हुआ शीघ्र अपरिमित सुखके निधानभूत शिवपदको[1] प्राप्त करता है। इसीसे योगीश्वर और विद्वज्जन आपका गुणस्तवन स्मरण, ध्यान और पूजनादि करते हैं। और इसलिये मैं भी आपकी स्तुतिमे प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि आप महान् हैं और एक ही यथार्थ देव है।

वास्तवमे भगवान् पार्श्वनाथ इसलिये वन्दनीय और स्तुत्य नहीं हैं कि वे एक परम्पराद्वारा मान्य हैं, किन्तु इसलिये वन्दनीय और स्तुत्य हैं कि वे आप्त है—वीतराग एव सर्वज्ञ हैं—तथा अपने शान्तिमय उपदेशद्वारा उन्होंने विश्वके दुखी जीवोंका दुख-मोचन किया है और उन्हे उस सुखमय तथा प्रकाशपूर्ण मार्गका प्रदर्शन किया है, जिसपर चलकर वे शीघ्र ही दु:खोंसे मुक्त होजाते हैं और अजर अमर एव अजन्मा बन जाते हैं—फिर उन्हें जन्म-मरणादिके घोर दु:खोको नहीं उठाना पडता। वह मार्ग है सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता। जीवादि सात पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना, अथवा 'मैं बाह्य

---

१ "शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाध विशोक-भय-शङ्कम्।
काष्ठा-गतसुख-विद्या-विभव विमल भजन्ति दर्शन-शरणाः॥"
—रत्नक० श्लोक ४०।

पदार्थोंसे भिन्न चैतन्यमय आत्मद्रव्य हूँ' इस प्रकारकी प्रतीति होना सम्यक्दर्शन है तथा उन (जीवादि सात पदार्थों)का यथार्थ बोध करना. अथवा 'मेरा आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों-का पिटारा है. पुद्गलादि अचेतन द्रव्य मुझसे सर्वथा भिन्न हैं' इस प्रकारका दृढ निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है और उन (जीवादि सात तत्त्वों)को जानकर अपनी तदनुकूल प्रवृत्ति बनाना अर्थात् ग्रहण करने योग्य अहिंसादिको ग्रहण करना तथा छोडने योग्य हिंसा, राग, द्वेषादिको छोडना, अथवा आत्मस्वरूपमें लीन होना सम्यक्-चारित्र है। इन तीनोंका सहयोग ही मोक्ष-प्राप्तिका उपाय है। इस उपायका—मोक्षमार्गका प्रदर्शन (उपदेश) भगवान् पार्श्वनाथने किया है। अतः वे सभी स्वहितकांक्षियोंद्वारा स्तुत्य और अभि-वन्दनीय हैं ॥ १ ॥

अन्येनाऽऽप्ता विरोधाच्छ्रुतिरपि न ततः कोऽप्ययं वेत्ययुक्तिः
सम्यङ्निर्णीति-बाधा-प्रमिति-विरहतः कश्चिदेवास्ति बन्धः।
नाशं दोषावृती यत्कचिदपि भजतो दृष्ट-हानि-प्रकर्षात्
निःशेषं हेम्नि यद्वन्मलमिति भवतो निष्कलङ्कत्वसिद्धिः ॥२॥

पद्यार्थ—हे पार्श्व! आपसे भिन्न जो दूसरे कपिल वगैरह हैं वे आप्त नहीं हैं, क्योंकि उनके उपदेशोंमें विरोध पाया जाता है। तथा जो श्रुति (वेद) है वह भी परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेसे आप्त (अतीन्द्रिय पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान करने और उनका प्रामाणिक कथन करनेवाली) नहीं है। और इसलिये इन कपि-लादिकों और श्रुतिमें एक भी आप्त सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें किसी एकके अथवा सभीके आप्तपनाको सिद्ध करनेवाली कोई

युक्ति—अनुमानादि प्रमाण—नहीं है। पर कोई आप्त ज़रूर है। अथवा, 'कश्चिदेव कः परमात्मा विशेष इव एव वाच्यः' अर्थात् जो परमात्मा-सर्वज्ञ है वही अर्हन्त (आप्त) है; क्योंकि उसके—परमात्मा-सर्वज्ञके—बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित है—अर्थात् आप्त-सर्वज्ञके सद्भावका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इसके सिवाय उसके सद्भावका साधक प्रमाण भी मौजूद है और वह यह है कि दोष और आवरण किसी विशेष आत्मामें सम्पूर्णतः नाशको प्राप्त होते हैं; क्योंकि उनकी हानि और वृद्धि देखी जाती है, जिनकी हानि और वृद्धि देखी जाती है उनका पूर्णतः नाश भी कहीं होता है; जैसे सोनेमें किट्टिमा और कालिमा आदिक अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग मैलों इस अनुमान (परिशेषानुमान) प्रमाणसे आप्त (पार्श्व)के निष्कलङ्क (आप्त)पनेकी सिद्धि होती है।

यदि कहा जाय कि इनमे कपिल सर्वज्ञ हैं और उनका ही उपदेश समीचीन है, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे सर्वज्ञ क्यों नहीं हैं[1] और उनके उपदेश यथार्थ क्यों नहीं हैं ? यह प्रश्न तो खडा ही रहता है। अगर कहें कि सभी सर्वज्ञ हैं और सभीके उपदेश यथार्थ हैं तो उनमें परस्पर विरोध क्यो पाया जाता है[2], इसका फिर क्या समाधान है ? अर्थात् कोई भी समाधान नहीं है। अतः अमुकको अथवा सबको सर्वज्ञ (आप्त) सिद्ध करने वाला प्रमाण न होनेसे कपिलादिक आप्त नहीं हैं।

मीमांसक श्रुति (वेद)को आप्त-सर्वज्ञ मानते हैं—उसीसे भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म और व्यवहितादि पदार्थोंका ज्ञान स्वीकार करते हैं, पुरुषको उनका साक्षात्कर्ता (सर्वज्ञ) नहीं मानते। उनका कहना है कि त्रिकालवर्ती समस्त पुरुष रागादिदोषोंसे युक्त हैं, उनके ये दोष कभी नाश नहीं हो सकते और इसलिये वे सूक्ष्मादि पदार्थोंको नहीं जान सकते। किन्तु श्रुति रागादिदोषरहित होनेके कारण उन पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है। अतः वही आप्त है। परन्तु उनका यह कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रथम तो श्रुति शब्दात्मक होनेसे अचेतन है और इसलिये वह उक्त पदार्थों-को जाननेमें सर्वथा असमर्थ है। दूसरे, श्रुतिगत शब्द अपने आप—पुरुषकी अपेक्षा लिये विना—'इस (शब्द)का यह अर्थ है और यह नहीं है' यह प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। तीसरे,

---

१ "सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥"

२ 'न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः।'-अष्टशती पृ. १।

ब्रह्माद्वैतवादी श्रुतिवाक्यका अर्थ विधि करते हैं, प्राभाकर नियोग और भाट्ट भावना अर्थ वतलाते हैं। ऐसी स्थितिमें किसे प्रमाण और किसे अप्रमाण माना जाय ? यदि सवको प्रमाण कहा जाय तो उनमे परस्पर विरोध होनेसे सवका नाश निश्चित है— एककी भी सिद्धि सम्भव नहीं है[१] और उस हालतमे श्रुतिवाक्य आप्त (सवादी) नहीं हो सकता। चौथे, 'एकहायन्या अरुणया गवा सोम क्रीणाति', 'श्वेतमजमालभेत' इत्यादि श्रुतिवाक्योंद्वारा हिंसाका विधान और 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि श्रुतिवचनो द्वारा उसका निषेध दोनो परस्पर-विरोधी प्रतिपादनोंके श्रुतिमें होनेसे वह आप्त नहीं ठहरती। तव फिर आप्त कौन है ? इसका समाधान यह है कि कोई परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) ही आप्त है, क्योंकि एक तो उसके सद्भावमें कोई वाधक नहीं है। दूसरे, उसका सद्भावसाधक प्रमाण मौजूद है। वह यह कि जिस विशिष्ट आत्मा-में दोषोंका सर्वथा अभाव होजाता है वही आप्त है और दोषोंका सर्वथा अभाव भगवान् पार्श्वनाथके है। अतः वे ही स्तुत्य एवं वन्दनीय हैं।

सूक्ष्माद्यर्थः समक्षोऽनुमिति-विषयतः कस्यचिद्वाऽनलादिः
स त्वं निर्धूत-कर्म-क्षितिधर-निवहो दृष्ट-निःशेष-सत्त्वः।

---

१ 'भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ॥ १ ॥'
'कार्येऽर्थे चोदना-ज्ञान स्वरूपे किन्न तत्प्रमा।
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥२॥'—अष्टस० पृष्ठ ५।

न्यायावाध्याऽऽगमोऽर्हन्नसि खलु भवतः सा ह्यनेकान्तदृष्टिः
प्रत्यक्षाद्यै रबाध्या भवति न नियतैकान्तयुक्तिप्रभाढ्या ॥३॥

पद्यार्थ—सूक्ष्मादि पदार्थ किसी (आत्माविशेष)के प्रत्यक्ष हैं—प्रत्यक्षज्ञानके विषय हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं, जैसे अग्नि आदि। (जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थ पर्वतादिकमें अनुमेय हैं अतएव वे किसी व्यक्तिके प्रत्यक्ष भी होते हैं उसी प्रकार सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि अनुमानसे गम्य हैं इस लिये वे किसी पुरुषविशेषके प्रत्यक्षज्ञानसे अवश्य जाने जाते हैं) और जो उन्हें प्रत्यक्षज्ञानसे जानता है वही (सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता) सर्वज्ञ है। और वह सर्वज्ञ हे पार्श्वजिनेन्द्र ! आप हैं, क्योंकि आपने कर्मरूपी पर्वतसमूहको ध्वस्त किया है—अपनी आत्मासे पृथक् कर डाला है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञान होने आदिमें प्रतिबन्धकस्वरूप ज्ञानावरणादि कर्मोंको पूर्णतः नाश कर दिया है और ध्वस्तकर्म (निर्दोष) आप इस कारण हैं कि आपका प्रतिपादित अनेकान्तदृष्टिरूप आगम-उपदेश युक्ति अविरोधि है—युक्तिसे विरुद्ध (बाधित) नहीं है और युक्तिसे विरुद्ध इसलिये नहीं है कि आपकी वह अनेकान्तदृष्टि (स्याद्वादागम) प्रत्यक्षादिकसे बाधित नहीं है—अबाध्य है और न वह सर्वथा एकान्त-युक्तियोंकी प्रभासे युक्त है—सर्वथा नित्यत्व, अनित्यत्व आदि एकान्तोंसे खण्डित होती है।

भावार्थ—इस पद्यमें पहले तो सामान्यतः सर्वज्ञकी सिद्धि की है, बादमें विशेषानुमानसे वह सर्वज्ञ भगवान् पार्श्वनाथको सिद्ध किया गया है। लोकमें अनेक व्यक्ति और मत सदासे ऐसे चले

आरहे हैं जो आत्मामें सर्वज्ञताका होना सम्भव स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टिमें, सर्वज्ञता सम्भव भी हो तो वह, विवक्षित और निश्चित कुछ ही पदार्थोंमें सीमित है। त्रिलोक और त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थोंका ज्ञान किसी भी आत्मामें कभी सम्भव है, ऐसा वे नहीं मानते। उनके इस मन्तव्यका उत्तर यहाँ दिया गया है। स्तुतिकार, समन्तभद्रस्वामीकी तरह पहले सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि करते हैं और उसमें सबसे महत्वपूर्ण एव प्रबल युक्ति यह देते हैं कि 'त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त सूक्ष्मादि पदार्थ चूँकि अनुमेय हैं, इसलिये वे किसी विशिष्ट पुरुषके प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि जो पदार्थ अनुमेय होते हैं वे किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं, जैसे प्रसिद्ध अग्नि आदि पदार्थ।' इस तरह सामान्य सर्वज्ञ सिद्ध करके एक दूसरी युक्तिसे उन्होंने विशेष सर्वज्ञका प्रसाधन किया है। वह दूसरी महत्वकी युक्ति यह है कि 'वह सर्वज्ञ पार्श्वनाथ हैं, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञानमें बाधकरूप राग, द्वेष, मोह और ज्ञानावरणादि दोषोंका उन्होंने सर्वथा नाश कर दिया है—आंशिकरूपमें भी वे दोष उनमें नहीं हैं और यह बात इससे प्रकट है कि उनका अनेकान्तात्मक उपदेश (आगम) युक्ति और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित है। जब कि कपिल और महेश्वरादिकके एकान्तात्मक उपदेश युक्ति तथा प्रत्यक्षादिसे बाधित हैं एवं विरोधको लिये हुए हैं।' स्पष्ट है कि उनके द्वारा प्रतिपादित सर्वथा नित्यत्वादि एकान्त प्रत्यक्षादिविरुद्ध हैं। वस्तुमें सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वथा अनित्यपना आदि एकान्त प्रतीत नहीं होते उसमें तो कथञ्चित् (द्रव्यरूपसे) नित्यपना और कथञ्चित् (पर्यायरूपसे) अनित्यपना आदि अनेक धर्म स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। अतएव अबाधित अनेकान्तात्मक आगमका प्रतिपादन करनेसे

भगवान् पार्श्व ही सर्वज्ञ प्रसिद्ध होते हैं, अन्य (प्रत्यक्षादिविरुद्ध नित्यत्वादि एकान्तोंके प्रतिपादक) कपिलादि नहीं ॥३॥

तावत्प्रत्यक्षमेव प्रथयति तदनेकान्तवाद-प्रसिद्धिं
यद्वा स्कन्धस्य वर्णाद्यवकर-निचितैकात्मनः स्यात्प्रतीतिः।
अन्तश्चित्तस्य सौख्याद्यनुमित-चिदसङ्कीर्णभावस्य दृष्टेः
सामान्यं वा विशेषो यदि न हि घटतेऽन्योन्यविश्लेष्यवृत्त्या ॥४॥

पद्यार्थ—प्रत्यक्ष ही स्पष्टतः वस्तुमें अनेकान्तवादको अबाधितरूपसे सिद्धि करता है। अर्थात् 'वस्तु अनेक धर्मरूप है' यह प्रत्यक्षसे ही जाना जाता है, क्योंकि जो स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्य है वह रूपादि गुणोंका समूहात्मक प्रतीत होता है और जो अन्तः चित्त—अर्थात् जीवद्रव्य है वह सुखादिसे अनुमित ज्ञान-दर्शन-रूप चैतन्यसे अभिन्न अनुभूत होता है। तथा सामान्य और विशेष ये दोनों पृथक्वृत्तिसे—एक दूसरेको छोड़कर रहते हुए—सिद्ध नहीं होते—दोनों अभिन्नरूपसे एक साथ ही समुपलब्ध होते हैं। जहाँ सामान्य होता है वहाँ विशेष भी रहता है और जहाँ विशेष होता है वहाँ सामान्य भी मौजूद रहता है। इस तरह दोनो ही एक जगह सहवृत्ति हैं और परस्परसापेक्ष होकर ही वे सिद्ध होते हैं। अतः सिद्ध है कि अखिल वस्तुएँ द्रव्य-पर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक आदि अनेकान्तरूप हैं।

भावार्थ—अनुमान और आगम प्रमाणको वस्तुकी अनेकान्तात्मकतामें साधक न भी मानें, यद्यपि वे भी अनेकान्तात्मकताके साधक हैं, तो भी अकेला प्रत्यक्ष-प्रमाण ही उसे अनेकान्तात्मक

कहा जाता है। इसी तरह सर्वत्र सामान्य-विशेषभाव संयोजित करना चाहिये। इसी आशयसे आचार्य माणिक्यनन्दिने परीक्षा-मुखमें कहा है—'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः' [४-१] अर्थात् पदार्थ सामान्य और विशेष दोनों रूप है—न केवल कोई सामान्यरूप ही है और न केवल विशेषरूप ही है। अतः प्रमाण-सिद्ध है कि वस्तु अनेकान्तात्मक (नानाधर्मविशिष्ट) है ॥४॥

तदनेकान्तात्मकं यत्सदनुनयवशं सर्वमर्थक्रियाकृत्
प्रमिति-प्रत्यास-रूपं स्फुट-निज-विषयाकार-संवित्तिवद्वा।
अपि वा सिद्धं त्रिकालत्रय-समय-गतानन्तपर्याय-पुष्यत्
परिणामे तत्प्रतीतात्मनि हृत-नियतैकान्तिकेऽध्यक्षसिद्धेः ॥५॥

पद्यार्थ—जीवादि सब वस्तुएं अनेकान्तात्मक हैं; क्योंकि वे सत हैं, प्रत्येक नयके द्वारा जानी जाती हैं, अर्थक्रिया (जलानयन आदि नाना कार्य)को करनेवाली हैं, प्रमाणका विषय हैं, विशद-रूपसे वस्तत् ज्ञानकी विषयभूत अर्थात् प्रमेयाकार परिच्छेद्यवाली हैं तथा तीनों कालोंके (अनन्त) समयोंमें होनेवाली अनन्त पर्यायोंसे युक्त हैं। और इस तरह प्रत्यक्षके अतिरिक्त इन हेतुओंसे भी समस्त पदार्थ अनेकान्तस्वरूप सिद्ध होते हैं। अतः अनुमान और प्रत्यक्ष दोनोंसे अनेकान्तात्मकताकी सिद्धि होती है। इसके अलावा, वस्तुओंमें जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणाम प्रतीत होता है वह भी प्रत्यक्षसे सर्वथा एकान्तरहित—अने-कान्तात्मक प्रसिद्ध है। अर्थात् वस्तु-परिणाम न केवल उत्पादरूप ही है, न केवल व्ययरूप ही है और न केवल ध्रौव्यरूप ही है

अपितु इन तीनों ही रूप है और इससे भी सिद्ध है कि वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है।

भावार्थ—लोकमे जितनी भी घटादिक वस्तुएँ हैं वे सब अनेक धर्मविशिष्ट हैं। यदि वे अनेक धर्मयुक्त न हो तो उनमेंसे प्रत्येकमे उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनो प्रतिसमय नहीं बन सकते है और उस हालतमे वे सत् नही कही जा सकती क्योंकि सत् वही है जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति सहित है। जैसा कि कहा है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्'-[तत्त्वार्थसूत्र ५-३०] अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्तको सत कहते हैं। दूसरे यदि वस्तुमे अनेक धर्म न माने जायें तो वह विभिन्न नयोंकी विषय नहीं हो सकती है, क्योंकि नय एक-एक धर्मको ही ग्रहण करते हैं। अतएव अगर द्रव्य और पर्याय दोनो (नाना) रूप वस्तु न हो तो द्रव्यग्राही द्रव्यार्थिक और पर्यायग्राही पर्यायार्थिक नय कहाँ प्रवृत्त होगे? पर वस्तु उक्त नयोका विषय अवश्य होती है। इससे भी मालूम होता है कि वस्तुएँ द्रव्य पर्याय आदि अनेक धर्मवाली है। तीसरे लोगोकी उनसे अभीष्ट क्रिया (कार्य-प्रयोजन) की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ जलसे प्यासका बुझना तृप्तिरूप सुखकी प्राप्ति होना स्नानादिद्वारा थकावट दूर होना आदि कार्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। यदि वस्तु सर्वथा एकान्तात्मक हो—अनेकान्तात्मक न हो—तो उससे उक्त प्रकारके अनेक कार्य सम्पादित होते हुए दृष्टिगोचर नहीं होने चाहिएँ। इससे भी प्रतीत होता है कि वस्तुमे स्वभावतः नाना धर्म है। चौथे वस्तु प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि अनेक प्रमाणोका विषय होती है अर्थात् उनसे जानी जाती है। यदि उसमें प्रत्यक्षविषयता, अनुमानविषयता, आगम-

विषयता आदि विभिन्न धर्म न हों तो वह नाना प्रमाणोंका विषय नहीं हो सकती है। इससे भी जाना जाता है कि वस्तु नाना प्रमाणोंका विषय होनेसे अनेकधर्मात्मक है। पाँचवें, वस्तु ज्ञानमें घटाकार, पटाकार आदि अनेक ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित होती हुई गृहीत होती है और इससे प्रकट है कि वह नाना धर्मयुक्त है। छठे, वस्तु भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालोंमें और उनके तीनों (सुबह, मध्याह्न तथा शाम) समयोंमें अर्थात् प्रतिक्षण उत्पत्ति, विनाश और स्थितिरूप नाना परिणामोसे परिणम रही है। तात्पर्य यह कि कालत्रयवर्ती अनन्त पर्यायें भी उसमें प्रवर्त रही हैं। जो देवदत्त पहले बाल था वह अब युवा है और कालान्तरमें वृद्ध होगा। जो वस्तु पहले नई थी वह पुरानी और कालान्तरमें नाश होगी। यदि वह सर्वथा एकरूप (नई या पुरानी आदि हो) हो तो ये नाना परिणमन अथवा परिवर्तन उसमें कदापि सम्भव नहीं हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सब वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं और यही प्रत्यक्षादिसे प्रमाणित होता है। इसी बातको इस पद्यमें युक्तिपुरस्सर बतलाया गया है ॥५॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्यात्तादात्म्यमुपाश्रितैरधिगतानन्तैर्भविष्यद्भवद्-
भूतैः सत्क्रम-यौगपद्य-विधिभिर्यत्पर्ययैर्वा गुणैः।
सङ्कीर्णाङ्गमदद्रवत् द्रवति वा द्रोष्यत्यथो द्रव्यमि-
त्येतद्धर्मिणि धर्मिता तदपरेष्वेवं भवेत्प्रक्रिया ॥६॥

पद्यार्थ—जो क्रम और यौगपद्यके द्वारा कथंचित् अभिन्नताको प्राप्त हुए भावी, वर्तमान और भूत (अतीत) अनन्त

पर्यायों तथा गुणोंसे व्याप्तशरीर है—युक्त है वह सत् है और सत् ही द्रव्य है¹। क्योंकि जो पर्यायों और गुणोंको 'अद्रवत्'—प्राप्त हुआ था, 'द्रवति'—प्राप्त हो रहा है अथवा 'द्रोष्यति'—प्राप्त होवेगा वह द्रव्य है अर्थात् उसकी द्रव्यसंज्ञा है। यही धर्मी (वस्तु)में धर्मित्व है अर्थात् इस तरह वस्तु नाना धर्मोंका पिण्ड सिद्ध होती है। इसी प्रकार सत् और द्रव्यके अतिरिक्त दूसरी अवान्तर वस्तुओंमें भी अनेक धर्मात्मकता जानना चाहिये।

भावार्थ—पहले प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। और इस पद्य द्वारा 'सत्' तथा 'द्रव्य' शब्दोंपरसे भी व्युत्पत्ति करके उसे अनेकधर्मात्मक प्रकट किया है। यहाँ कहा गया है कि 'सत्'को सत् इसी लिये कहा जाता है कि वह अतीतकालमें उत्पादादि अनेक पर्यायों और गुणोंसे विशिष्ट था वर्तमानमें है और भविष्यमें भी रहेगा। यदि वह एक भी क्षण पर्याय और गुणसे खाली हो तो खरविषाणकी तरह उसमें असत्त्वका प्रसङ्ग आवेगा। इसी प्रकार द्रव्यको द्रव्य भी इसी लिये कहा जाता है कि वह गुण और पर्यायोंको पहले भी प्राप्त था, वर्तमानमें भी प्राप्त हो रहा है और आगे भी प्राप्त होगा। ऐसा एक भी क्षण नहीं जब द्रव्यमें कोई पर्याय या गुण न हो अन्यथा वह 'द्रव्य' शब्दके द्वारा वाच्य भी नहीं हो सकता। क्योंकि गुण और पर्यायोंको प्राप्त करनेवालेको द्रव्य कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सत् और द्रव्य अनेक धर्मात्मक हैं। यहाँ यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि नैयायिकों और वैशेषिकोंने जो द्रव्यको उत्पत्ति समय-

१ 'सद् द्रव्यलक्षणम्' [तत्त्वार्थसू० ५-२९]

मे गुण और क्रियासे शून्य बतलाया है[1] वह ठीक नहीं है क्योंकि उनके ही मतानुसार 'क्रिया-गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' [वैशेषिकसू० १-१-१५] यह द्रव्य-लक्षण उत्पत्ति समयमें न रहनेसे द्रव्य द्रव्य नहीं कहा जासकेगा। चूँकि उत्पत्ति समयमे भी द्रव्यको द्रव्य माना और कहा जाता है। इस लिये उसमें उस समय किसी न किसी गुण अथवा क्रिया (पर्याय)का सद्भाव जरूर ही बना रहता है और बना रहना चाहिये। अतएव जब सत् और द्रव्य नाना धर्मात्मक हैं तो उनके अवान्तर भेद—घटपटादि वस्तुएँ भी नाना धर्मात्मक प्रसिद्ध हो जाती हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पद्यमें जो *'स्यात्तादात्म्यमुपाश्रितैः'* शब्दोंका प्रयोग है उनके द्वारा यह बतलाया गया है कि द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है, समवायादिक नहीं ॥६॥

(स्रग्धरा)

नश्यत्युत्पित्सु तद्भवति नशनवत्स्थास्नु सम्पद्यते वा
स्थास्यत्युत्पत्स्यते सा स्थितिरसकृदलं नङ्क्ष्यति स्थास्यतीत्थम्
नंक्ष्यत्युत्पत्स्यते तन्नशनमपि तथोत्पत्स्यते स्थास्यते य-
न्नंक्ष्यत्युत्पत्तिरेवं त्रिविधमिति भवेत्तत्त्वमर्हन् तवेष्टम् ॥७॥

पद्यार्थ—जो पदार्थ उत्पित्सु है—उत्पन्न होनेवाला है वही नष्ट होता है, पैदा होता है और नाशकी तरह स्थिर रहता है अर्थात् स्थितिको प्राप्त होता है। वह पदार्थकी स्थिति भी निरन्तर

१ 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति'।

स्थिर रहेगी, उत्पन्न होगी और नष्ट होगी । इसी प्रकार पदार्थका नाश भी स्थिर रहेगा, नष्ट होगा और उत्पन्न होगा । इसी तरह उत्पत्ति भी उत्पन्न होगी, स्थिर रहेगी और नष्ट होगी । इस तरह हे अर्हन्! पार्श्वजिन! आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व—निखिल वस्तुसमूह—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप प्रसिद्ध होता है।

भावार्थ—इस पद्यमे वस्तुको अनेकधर्मात्मक और भी विशदतासे बतलाया है । स्तोत्रकार कहते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व उत्पाद, व्यय और स्थिति इन तीन धर्मयुक्त है क्योंकि वह उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और स्थिर रहता है। उदाहरणके लिये एक घड़ेको ही लीजिये, वह मृत्पिण्डसे जब उत्पन्न होता है तो मृत्पिण्डका विनाश घट-पर्यायकी उत्पत्ति और मिट्टी-द्रव्यका सद्भाव ये तीनो उसमे दृष्टिगोचर होते है । एक सुवर्णघट है उसे मिटाकर जब उसका मुकुट बनाया जाता है तो, जो घटार्थीजन है वह शोक करता है, और जो मुकुटार्थी है वह प्रसन्न होता है तथा जो सुवर्णार्थी है वह न शोक करता है और न प्रसन्न होता है—मध्यस्थ बना रहता है । यदि सुवर्णघटमें किसी रूपसे उत्पाद, किसी रूपसे नाश और किसी रूपसे स्थिति ये तीन धर्म (स्वभाव) न हो तो उसके बनने, मिटने और स्थिर रहनेपर जो शोक, प्रसन्नता और माध्यस्थ्य ये तीन प्रकारके भाव लोगोंके होते हैं वे नहीं होने चाहिएँ, किन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि ये तीनो बातें होती हैं । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है:—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति स-हेतुकम् ॥ [आ मी का ५९]

ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों कालों—भूत, भविष्यद् और वर्तमान—की अपेक्षा ९ भेदरूप हैं और ये ९ प्रत्येक ९, ९ रूप हो जाते है। अतः इनके भेदोपभेद कुल ३×३=९×९=८१ हैं। इन्हीं ९ और ८१ भेदोंकी सूचना प्रस्तुत पद्यमें की गई है[1]। इस तरह प्रकट है कि वस्तु अनेकान्तस्वरूप है।

( )

तदतद्रूपाः पदार्थाः स्व-पर-विधि-दिशाऽपेक्ष्य सर्वस्य सर्वा-
करणात्क्षीराद्यवार्प्तिं विदधदिह घटाद्यास्तु नैते पटाद्याः ।
न च पौरस्त्य. स पश्चाद्भवति न च पुरा निर्व्यपेक्ष-स्वभावः
तदनेकाकारमेक सदसदभिमतं तादृगेतन्न तादृक्[2] ॥८॥

---

१ इन ८१ भेदोंका पूरा खुलासा अष्टसहस्री (पृ० ११३)मे देखिये।

२ तुलना कीजिये—

कथञ्चित्ते सदेवेष्ट कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्य च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।
प्रक्रिया भगिनीमेना नयैर्नयविशारदः ॥२३॥
सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथग्द्रव्यादिभेदतः ।
भेदाऽभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥
नित्य तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाऽकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिक कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत. ॥५६॥—आप्तमीमासा।

नहीं है। घट मिट्टी (मृत्‌द्रव्य)की अपेक्षासे नित्य है और घटादि-पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। इस प्रकार यदि वस्तु भाव-अभाव, एक-अनेक नित्य-अनित्य आदि अनेकान्तरूप सिद्ध हो तो हम क्या करें ? उसे तो वैसी मानना अनिवार्य ही है।

(स्रग्धरा)

स्याद्वादे[1] सप्तभङ्गीनयजुषि विधि-निर्द्धारणाभ्यां हि वस्त्वा-
रूढं सत्वेतरात्मक्रमनियमदिशा लक्ष्यतेऽर्थक्रियाकृत् ।
स्वर्णादेर्वा कथञ्चित्सत इह भवति स्यात्स्वरूपान्तराप्तिः
प्रायः पूर्वोत्तराकृत्यपगम-जनन-द्रव्ययुक्तं हि वस्तु ॥९॥

पद्यार्थ—हे जिन ! आपके सप्तभङ्गीनयात्मक स्याद्वादमें—अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले अनेकान्तमतमें—विधि और निषेधके द्वारा वस्तु (सकल पदार्थसमूह) अवस्थित है

---

१ तुलना—"सप्तभगीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्या समारूढ वस्तु सद-सदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथञ्चित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्व-भावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम्। सुवर्णं हि सुवर्णत्वादि-द्रव्यार्थादेशात् सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति तथा परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्या-पारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते। ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत् । तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम् ।"
—अष्टशती और अष्टसहस्री पृ० १५० ।

और इस तरह वह कथञ्चित सदसदात्मक—अनित्यनानित्यरूप होती हुई अर्थक्रियाकारी लक्षित-सुप्रतीत होती है। जिस प्रकार सुवर्णादि सुवर्णत्वादिसामान्यकी अपेक्षासे सद्रूप है और केयूर, कुण्डल, कटक आदि विवक्षित विशेषों-पर्यायोंकी अपेक्षासे असत् रूप है—स्वरूपान्तर (केयूरत्वादि) से विशिष्ट है इस तरह सत और असत दोनो रूप है। उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवादि वस्तुएँ भी पूर्वाकारके त्याग, उत्तराकारके ग्रहण और अन्वयरूपसे दोनोंमे रहने वाला द्रव्य-ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त है अर्थात् सभी पदार्थ उत्पत्ति विनाश और स्थित्यात्मक है।

भावार्थ—कितने ही लोग अनेकान्तवादको संशयवाद अनिश्चितवाद अथवा छलवाद समझते हैं और ऐसा समझकर उस-मे दूषण प्रदर्शित करते है। पर उनका यह समझना भ्रमरूप है। वास्तवमे अनेकान्तवाद न संशयवाद है, न अनिश्चितवाद है और न छलवाद है। आप किसी भी वस्तुको लीजिए उसमे अनुकूल व प्रतिकूल अनेक धर्म मिलेंगे और वे उसमे निश्चित ही है। क्या घडा उत्पन्न नहीं होता, विनष्ट नहीं होता, और कुछ काल तक स्थिर नहीं रहता ? प्रत्यक्ष है कि वह उत्पन्न भी होता है, विनष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। अतः सिद्ध है कि घडा उत्पाद, विनाश और स्थिति इन तीन धर्मोंवाला निश्चितरूपसे है। न सन्दिग्धरूपसे है, न अनिश्चितरूपसे है और न छलरूपसे है। एक विद्यार्थी अपने गुरुका शिष्य है तो वह मात्र शिष्य ही शिष्य नहीं है, वह अपने पिताका पुत्र भी है, अपने चाचाका भतीजा भी है, अपने मामाका भानजा भी है, इस तरह वह अनेकधर्मयुक्त

युगपत (एक साथ) विवक्षा होनेसे कथञ्चित अवक्तव्य (कही नहीं जा सकती) है। इसी तरह अवक्तव्यके साथ अलग अलग और एक साथ अस्ति नास्ति और अस्ति-नास्तिको मिलानेसे वस्तु कथञ्चित अस्ति-अवक्तव्य है कथञ्चित नास्ति-अवक्तव्य है और कथञ्चित अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। इस प्रकार गौण और मुख्यभावको लेकर सातभङ्ग निष्पन्न होते हैं। इन्हीं सात भङ्गोंको सप्तभङ्गी कहते हैं और इन सातभङ्गोंके द्वारा ही वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत पद्यमें सप्तभङ्गीनयका दिग्दर्शन कराया गया है। भङ्ग' शब्दका अर्थ धर्म है और वे धर्म सात हैं—सत्त्व, असत्त्व उभयत्व अवक्तव्यत्व, सत्त्व-अवक्तव्यत्व, असत्त्व-अवक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्व-अवक्तव्यत्व। अथवा भङ्ग शब्दका वचन भी अर्थ है और इस लिये सात वचन-प्रयोगोंको सप्तभङ्गी कहा जाता है। सत्त्वधर्मको कहनेवाला सत्त्वभङ्ग है असत्त्वधर्मको कहनेवाला असत्त्वभङ्ग है उभयत्वधर्मका प्रतिपादक उभयत्वभङ्ग है, अवक्तव्यत्वधर्मका प्रतिपादक अवक्तव्यत्व धर्म है, सत्त्वावक्तव्यत्वधर्मका कथन करनेवाला सत्त्वावक्तव्यत्व भङ्ग है, असत्त्वावक्तव्यत्वधर्मको कहनेवाला असत्त्वावक्तव्यत्व भङ्ग है और सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्वधर्मको कहनेवाला सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्व भङ्ग है। इस तरह ये सात भङ्ग हैं, इन्हींको सप्तभङ्गीनय कहते हैं। सात ही वच (उत्तरवाक्य) इसलिये हैं कि सात ही प्रतिपाद्योंके प्रश्न होते हैं और सात ही प्रश्न उन्हें इसलिये होते हैं कि सात ही प्रकारकी उनकी जिज्ञासा होती है तथा सात प्रकारकी जिज्ञासा भी उन्हें इस कारण होती है कि वस्तुमें सात ही संशय

होते हैं और सात संशयोंका कारण वस्तुनिष्ठ उक्त सात धर्म हैं। जिस समय एक वचनके द्वारा एक धर्मका कथन होता है उस समय वह मुख्य और इतर धर्म गौण होते हैं, यही विवक्षा-अविवक्षाश्रित वस्तुव्यवस्था है। विशेष विवेचन विद्यानन्दस्वामीकी अष्टसहस्री (पृ० १२५, १२६)से जानना चाहिये।

स्याद्वादः[१] स्वपरावतारविषयेणोद्दीप्तसत्त्वेतरा-
द्याकाराद्यदनन्तधर्मनिलयस्योच्चैः सतो धर्मिणः।
सम्यङ्न्यायबलात्समर्थवदनं यः सप्तभङ्गीनया-
पेक्षः प्रश्नवशाद्विधीतरकृतेरेकत्र निर्बाधतः ॥ ११ ॥

पद्यार्थ—स्वचतुष्टय और परचतुष्टयके विषयद्वारा प्रकट हुए अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मोंके समुदायात्मक सद्रूप धर्मी–वस्तुका जो सम्यक् युक्तियोंसे निरूपण करनेवाला है वह स्याद्वाद है और वह स्याद्वाद सप्तभङ्गीनयकी अपेक्षा लेकर प्रश्नानुसार एक ही वस्तुमें अविरुद्धरूपसे विधि-प्रतिषेधकी कल्पना-द्वारा उन अनन्त धर्मोंका कथन करता है।

भावार्थ—वस्तु स्वभावतः अनेक धर्मात्मक है, उसका एक शब्दके द्वारा एकबारमें पूरा वर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्दकी सामर्थ्य सीमित है—'सकृदुच्चरितः शब्द एकमेवार्थं गमयति' अर्थात् एकबार बोला गया शब्द एक ही अर्थ (धर्म)का

---

१ तुलना—"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥"—आप्तमी० १०४।

बोध कराता है। हॉं, स्याद्वाद ('स्यात्' शब्दकी, जो न सशयवाची है और न क्रियावाची किन्तु अपेक्षावाची है, मान्यता) सप्तभङ्गी-नयका आश्रय लेकर उस (अनेक धर्मात्मक वस्तु)का पूरा वर्णन करता है। प्रकट है कि वस्तु भाव-अभाव, एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि अनगिनत युगल धर्मोंका पिण्ड है। प्रत्येक युगल धर्ममें सप्तभङ्गीनयकी योजना होती है क्योंकि वह सप्तभङ्गात्मक है जैसा कि पूर्व पद्यमें बतलाया गया है। उसका कुछ स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है:—

१—घडा स्यात् (कथञ्चित्) अस्तित्वधर्मविशिष्ट है, स्वद्रव्यादि-की अपेक्षा।

२—घडा स्यात् नास्तित्वधर्मविशिष्ट है, परद्रव्यादिकी अपेक्षा।

३—घडा स्यात् *उभयधर्मविशिष्ट है, स्वपरोभयकी अपेक्षा।

४–घडा स्यात् अवक्तव्य है, एककालमें उभय धर्मोंका एक साथ न हो सकनेकी अपेक्षा।

५–घडा स्यात् अस्तित्वधर्मविशिष्ट एव अवक्तव्य है, अस्तित्व और अवक्तव्यकी अपेक्षा।

६–घडा स्यात् नास्तित्वधर्मविशिष्ट एव अवक्तव्य है, नास्तित्व और अवक्तव्यकी अपेक्षा।

७–घडा स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वोभयधर्मविशिष्ट एवं अवक्तव्य है, क्रमोभयधर्म और अक्रमोभयधर्मावक्तव्यकी अपेक्षा।

इसी तरह एक-अनेक, नित्यत्व-अनित्यत्व आदिमें भी सप्तभङ्गीनयकी योजना करके उनका वर्णन किया जाता है। स्याद्वाद और एकान्तवादमें यही विशेषता है कि स्याद्वाद दूसरे धर्मको गौण, न कि निराकरण, करके विवक्षितधर्मको मुख्य करके प्रतिपादन करता है जब कि एकान्तवादमें दूसरे धर्मका निराकरण हो जाता है और उस हालतमें उसके द्वारा वस्तु-निरूपण ठीक ठीक नही होता। अतः स्याद्वाद ही वस्तुका यथार्थ निरूपक है।

सम्यङ्न्यायमतोदयेन सुनयैस्तस्यैकदेशैरथो
निक्षेपैश्च तदर्पणार्पणपरैर्व्यक्तीकृतप्राभवः।
निःशेषावरण-क्षय-क्षण-भवत्सर्वार्थ-सम्पद्विभा-
भाजा नाथ जिन त्वयाऽध्यवसितः स त्वं समाश्रीयसे ॥१२॥

पद्यार्थ—हे पार्श्वजिन! आपने सम्यक् न्यायरूप स्याद्वाद-के उदय (आविर्भाव) द्वारा और उसके एक देशरूप सम्यक्नयों

एवं मुख्य-गौणकी विवक्षा करके वस्तुस्वरूपके प्रतिपादक निक्षेपोंके द्वारा अपने प्रभावको व्यक्त किया है—लोकमें अपने सर्वाधिक महत्त्वको स्थापित किया है। क्योंकि हे नाथ! आपने सम्पूर्ण आवरणोंका क्षय करके और सर्वज्ञताको प्राप्त करके उसका (स्याद्वादका) प्ररूपण किया है। अतएव विवेकीजन आपका आश्रय लेते हैं—आपको महान मानकर आपकी स्तुति वन्दनो-पासनादि करते हैं।

भावार्थ—पहले स्याद्वादका कथन कर आये हैं वह स्याद्वाद ही सम्यक् न्याय है—प्रमाणवाक्य है और उसके ही एक देश-अंश सुनय-सम्यक्नय हैं तथा उस उस वस्तुका नामादिद्वारा व्यवहार करानेवाले निक्षेप हैं। इन तीनोंके द्वारा ही पदार्थोंका यथावत कथन किया जाता है। इनको छोडकर अन्य कोई पदार्था-धिगमोपाय नहीं है। इनसे पदार्थोंके जाननेमें संशय विपर्यय या अनध्यवसाय अथवा विरोधादि कोई भी दूषण नहीं आते। पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित हैं उस रूपसे ही उनकी इन तीनों द्वारा व्यवस्था होती है। इन स्याद्वादादिके निर्दोष होनेका कारण यह है कि इनका उपदेश वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान् पार्श्वनाथने किया है। वास्तवमें पदार्थोंका ठीक ठीक निरूपण वही कर सकता है जो स्वयं निर्दोष हो और सम्पूर्ण पदार्थोंको हस्तामलकवत् जाननेवाला हो। भगवान् पार्श्वनाथ वीतरागी और सर्वज्ञ हुए हैं। अतएव उनके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादादि ही सत्य सिद्धान्त हैं। और इसीलिये विद्वज्जन उनको और उनके उपदेशको मानते एवं ग्रहण करते हैं।

(स्रग्धरा)

जीवः कर्माणि भावः शुभमशुभमतस्तत्फले पुण्यपापे
सौख्य दुःख तथा दृक् स्वधिगमचरितान्यागमः शब्दवार्धौ ।
हेयादेयौ प्रमेयः प्रमितिरधिकृतः कालदेशादिमोक्षः
सर्वं सिद्ध्यै तवैव प्रभवति भगवन् शासनेऽतो भजामः ॥१३॥

पद्यार्थ—जीव, ज्ञानावरणादिकर्म, शुभाशुभ परिणाम, उनसे होनेवाले पुण्य और पापरूप फल, सुख दुःख तथा सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, द्वदशाङ्ग श्रुतज्ञान, हेय और उपादेयरूप प्रमेय (सामान्यविशेषात्मक प्रमाणविषय), प्रमिति (प्रमाणफल), काल-देश आदि और मोक्ष ये सर्व पदार्थ आपके ही शासन—अनेकान्तमतमें सिद्ध होते हैं—सर्वथा (एकान्ततः) वस्तुको नित्य अथवा अनित्य एक अथवा अनेक भिन्न अथवा अभिन्न या भावरूप अथवा अभावरूप माननेवाले एकान्तवादियों-के यहाँ इन जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती है । अतएव हे भगवन् ! हम आपको प्राप्त हुए हैं—आपकी ही स्तुति, आराधना आदि करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ।

भावार्थ—वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, यह पहले कहा जा चुका है और अनेकान्तका प्रतिपादन करनेवाला जैनशासन है । अतः उसमें जीवादि पदार्थव्यवस्था सम्यक् प्रकारसे बनती है परन्तु जो वस्तुस्वरूपको एकान्तात्मक मानते हैं—अनेकान्तरूप नहीं मानते उनके यहाँ जीव, कर्म और उनके संयोगसे होनेवाले शुभाशुभ परिणाम, उनके पुण्य-पापफल आदि किसी भी पदार्थ-

और न किसीके प्रति द्वेष-भाव, अपने पूजकों और निन्दकोंमें समवृत्ति है। जो पूजा जानेपर भी प्रसन्न होजाता है और निन्दा किये जानेपर रुष्ट हो जाता है वह न वीतरागी है और न देव है। ब्रह्मा, विष्णु आदि जो अवतारी देव माने जाते हैं यथार्थमें वे न तो पूर्णतः वीतरागी हैं और न सच्चे देव कहलाने योग्य हैं; क्योंकि उनमें पूजकोंके प्रति प्रसन्न-भाव और निन्दकोंके प्रति रुष्टभाव देखनेमें आता है। और इसलिये वे सम्पूर्ण कर्मरहित नहीं हैं। परन्तु पार्श्वनाथ भगवान्ने समस्त कर्मोंको ध्वस्त कर दिया है—अन्तरङ्ग या वहिरङ्ग कोई भी मल उनके अवशेष नहीं है जिसकी वजहसे राग-द्वेषादि विकारभाव उत्पन्न हो। अतएव भगवान् पार्श्वनाथ पूर्ण वीतरागी हैं और वे ही सच्चे देव हैं। देवत्वके परिचायक जो सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये असाधारण गुण है वे भी भगवान् पार्श्वनाथमें विद्यमान हैं क्योंकि इन्होंने सम्पूर्ण पदार्थोंको यथावस्थितरूपसे जानकर उन्हें दूसरोंपर प्रकट किया है, संसारसे छूटनेका मार्ग प्रदर्शन किया है। इस तरह वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता इन तीनों गुणोंसे, जो ही यथार्थमें देवपनेके साधक हैं, विशिष्ट होनेके कारण श्रीपुरस्थ भगवान् पार्श्वनाथको बड़े बड़े राजादि और महायोगीश्वरादि वहाँ पहुँच कर वन्दना, स्तुति आदि करते हैं तथा उनका ध्यान करके आत्मशान्तिका लाभ करते हैं। भव्योंके आराध्य वे पार्श्वनाथ प्रभु धन्य हैं। ॥१४॥

(स्रग्धरा)

देवः श्रीमानशेष-त्रिदशपरिवृढ-प्रार्च्य-पादारविन्दो
घात्यान्तर्निग्रहादि-प्रभवदतिशयो धर्मतीर्थस्य नाथः ।

नहीं हैं। अतएव हे पार्श्वनाथ! आप उपर्युक्त बातोंसे आप्त—परमात्मा (यथार्थ देव) नहीं हैं क्योंकि वे अनाप्तोंमें भी पाई जानेसे व्यभिचरित हैं किन्तु रागद्वेषादिदोषोंको प्रक्षीण (नाश) करने और युक्तिशास्त्राविरोधी वचन बोलने अर्थात् सत्य-वक्ता होनेसे आप आप्त—परमात्मा हैं—यथार्थ देव हैं[1] ॥१५॥

(शिखरिणी)

त्वदन्येऽध्यक्षादि-प्रतिहत-वचो-युक्ति-विषया
विलुप्ताभा लोक-व्यपलपन-सम्बन्ध-मनसः ।
भजन्ते नाऽऽप्तत्वं तदिह विदिता वञ्चन-कृतिः
विसवादस्तेषां प्रभवति तदर्थापरिगतेः ॥१६॥

पद्यार्थ—हे देव! आपसे भिन्न जो कपिलादिक हैं उनका उपदेश प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे बाधित है—वे प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं, प्रामाणिकतारूप सच्ची ज्योतिसे शून्य हैं और लोगोंको गुमराह करनेवाले हैं। और चूँकि लोकमें उनकी वञ्चना प्रसिद्ध है तथा पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान न होनेसे उनके विसवाद भी स्पष्ट है इसलिये वे आप्तताको प्राप्त नहीं होते—सच्चे देव नहीं हैं।

---

१ इस पद्यमें स्तुतिकारने वही सरणि अपनाई है जो समन्तभद्रस्वामीने आप्तमीमांसामें प्रदर्शित की है। इसके लिये उसकी पहली, दूसरी और तीसरी कारिकाओंको देखना चाहिये, जिन्हें पिछले पृष्ठके पाद-टिप्पण (फुटनोट)में भी उद्धृत किया गया है।

भावार्थ—उक्त पद्यमें यह कहा गया है कि भगवान पार्श्वनाथसे भिन्न जो कपिल आदि हैं वे आप्त नहीं हैं क्योंकि न तो उन्हें पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और न वे अविसंवादी हैं—उनके प्रतिपादित उपदेशोंमें विरोध विसंवाद और वञ्चनादि दोष स्पष्टतया पाये जाते हैं। और इस तरह जब उनके उपदेश दोष-पूर्ण हैं तब वे आप्त कैसे हो सकते हैं? अर्थात नहीं हो सकते। यथार्थतः दोष-रहित व्यक्ति ही आप्त होनेके योग्य है। जैसा कि कहा भी है—'आप्तो दोषक्षयं विदु'—अर्थात आप्त वह है जिसमें कोई भी दोष नहीं है। अतः यह स्थिर हुआ कि बुद्ध, कपिल आदि सत्यवक्ता तथा निर्दोष न होनेसे आप्त नहीं हैं। ॥१६॥

(स्रग्धरा)

नाऽत्यक्षे जैमिनिर्वा श्रुतिसमयबलः सम्यगर्थाविबोधात्
नैताद्दक्षस्य दोषावरण-विगमनाभावतोऽतीन्द्रियार्थे ।
ज्ञानं श्रुत्या सदर्थावगतिरथ ततः सत्यतेत्येष दोषो
न प्रामाण्यं स्वतोऽस्याः किल घटवद्चैतन्यतः सिद्धमेतत् ॥१७

पद्यार्थ—श्रुतिमात्रावलम्बी जैमिनि भी अतीन्द्रिय पदार्थोंके उपदेश करनेमें आप्त नहीं हैं अर्थात् यथार्थवक्ता सिद्ध नहीं होते। कारण, उन्हे उन पदार्थोंका सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान नहीं है और जब उन्हे सम्यक् ज्ञान नहीं है तब उनके दोषों और आवरणोंका अभाव नही हो सकता है और ऐसी दशामें अतीन्द्रिय धर्मादिक पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान उनके सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उन्हे श्रुतिद्वारा धर्मादिपदार्थोंका ज्ञान है तो

इसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है क्योंकि श्रुतिमें जब अविसवादीपन सिद्ध हो जावे तब उससे उन्हें यथार्थपरिज्ञान हो और जब यथार्थपरिज्ञान हो तब श्रुतिमें अविसवादीपन सिद्ध हो। और यह स्पष्ट है कि विसवादपूर्ण श्रुतिसे वास्तविक अर्थज्ञान नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि श्रुतिमें प्रामाण्य अविसवादसे नहीं है, स्वतः ही है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति घटकी तरह स्वयं अचेतन है और अचेतनमें स्वतः प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, किन्तु आप्त (वक्ता)को प्रमाण होनेसे उसके वचनोंको प्रमाण कहा गया है[1]। अतएव श्रुतिका कोई आप्त वक्ता न होनेसे उसके द्वारा भी जैमिनिको धर्मादिपदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता है और इसलिये सर्वज्ञ एवं निर्दोष न होनेसे जैमिनि आप्त नहीं हैं।

भावार्थ—मीमांसक जैमिनि ऋषिको अपना गुरु एवं आप्त मानते हैं परन्तु वे आप्त सिद्ध नहीं होते। कारण, उन्हें धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। जो उन्हें ज्ञान है वह श्रौतज्ञान है और श्रुतिमें परस्पर विरोध, विसवाद आदि पाया जानेसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थोंका उसके द्वारा यथार्थ-ज्ञान सम्भव नहीं है और न पूर्ण ज्ञान ही सम्भव है। एक बात और है वह यह कि यथार्थ और पूर्ण ज्ञान तभी सम्भव है जब दोष और आवरण पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। परन्तु मीमांसक-मतानुसार दोष और आवरण स्वाभाविक हैं और इसलिये जैमिनिके उनका अभाव सम्पूर्णरूपसे नहीं है। इसके सिवाय, श्रुतिद्वारा पूर्ण ज्ञान माननेपर अन्योन्याश्रय नामका दोष भी

---

१ 'वक्तुः प्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यम्' इति वचनात्।

प्रसक्त होता है जैसा कि ऊपर कहा गया है। अतएव यह स्थिर हुआ कि जैमिनि अतीन्द्रिय पदार्थोंके उपदेश करनेमें अस्खलित एवं निर्बाध आप्त नहीं हैं और न हो सकते हैं ॥ १७ ॥

आप्तोक्तं चेत्प्रमाणं व्यपनयतु तदर्थाविदानान्न साप्ता-
नुक्तेः स्याद्वक्तृदोषो यदि तदपगमान्नैवमित्यप्रतीतिः ।
क्वैवं सिद्ध्येद्विभागोऽभ्युपगमविगमैः पौरुषेयत्वमन्यत्
वा सुस्थं नैव कर्तृस्मरणविलयनान्नेति नाप्तत्वमन्यत् ॥१८

पद्यार्थ—आप्तके द्वारा कहा हुआ वचन प्रमाण है। कारण वह अतीन्द्रियार्थज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और आगे अतीन्द्रियार्थ-ज्ञानका जनक है। परन्तु श्रुति प्रमाण नहीं है क्योंकि उनका वक्ता कोई आप्त पुरुष नहीं है। यदि यह कहो कि वक्तामें दोषोंकी सम्भावना है इसलिये श्रुतिका वक्ता न होनेसे वह अप्रमाण नहीं है—प्रमाण ही है तो यह कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि इस तरह-का यह विभाग कैसे सिद्ध हो? अर्थात् यह कल्पना की जावे कि 'जिसका कोई वक्ता नहीं है वह प्रमाण है' तो बौद्धोंके पिटकत्रय और वेदोंमें फिर क्या भेद रहेगा? क्योंकि वेदोंकी तरह पिटकत्रयका भी कोई वक्ता नहीं है। अगर यह कहा जाय कि पिटकत्रयमे तो हम (मीमांसक) बुद्धको वक्ता बतलाते हैं. किन्तु वेदमें हम वक्ता नहीं मानते तो इस तरह अभ्युपगम और अन-भ्युपगमद्वारा कहीं (पिटकत्रयमे) पौरुषेयत्व और कहीं (वेदमें) अपौरुषेयत्व प्रतिपादन करना तत्त्वव्यवस्थाका बहुत सुन्दर

नमूना है। तात्पर्य यह कि मानने न माननेसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती है, अन्यथा बौद्ध भी यह कह सकते हैं कि पिटकत्रयमे कोई वक्ता नहीं है और वेदमें देवासुर वक्ता है। इसलिये प्रमाणसे ही तत्त्वव्यवस्था होती है। यदि यह कहो कि वेदमें कर्ताका स्मरण नहीं होता, पिटकत्रयमे तो कर्ताका स्मरण किया जाता है और इस लिये पिटकत्रयमे तो वक्ता है वेदमें वक्ता नहीं है—वह अपौरुपेय ही है तो इस तरह भी श्रुतिमें आप्तता—प्रमाणता और पिटक-त्रयमें अनाप्तता—अप्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती है क्योंकि वेदोंमें कर्ताका स्मरण न होना और पिटकत्रयमे उसका स्मरण होना भी अभ्युपगम (स्वीकार) और अनभ्युपगम (अस्वीकार) द्वारा ही व्यवस्थित किया जाता है किन्तु इसप्रकारसे तत्त्वकी व्यवस्था नहीं होती, इसलिये श्रुति आप्तोक्त न होनेसे प्रमाण नहीं है ॥१८॥

(   )

सुखदुःखादि-विचित्र-भाव-नियतेनैकस्वभावेश्वरः
प्रभवो नैव भवो न कारणलवात्कार्यस्य नानाकृतिः।
यवबीजांकुरवत्तथाऽपरिणतेऽनर्थक्रियासम्भवः
स्वभवावस्थितदेशकालिकभिदाभाजां स कर्ता कथम् ॥१९॥

पद्यार्थ—जगत्का कर्ता एकस्वभाववान् ईश्वर नहीं है, क्योंकि सुख-दुख आदि नाना परिणाम उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। यदि जगत्का कर्ता एकस्वभाववाला ईश्वर हो तो एकस्वभाववाले कारणसे नानास्वभाववान् कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते है क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि एक कारणसे कार्यमें

नाना आकार नहीं आ सकते हैं—एक कारणमे तो एक ही आकार पैदा हो सकता है । जैसे यवबीजमे यवांकुर ही उत्पन्न होता है, शाल्यंकुर आदि नही । दूसरे अपरिणामीमे—जो सर्वथा परिणाम रहित है, अर्थक्रिया भी सभव नहीं है और अर्थक्रियाके विना सत्त्व भी उसमे नही वन सकता है । कारण, अर्थक्रिया ही सत्त्व वस्तुत्व है। ऐसी स्थितिमे स्वभाव, अवस्था, देश और कालकी अपेक्षासे भिन्नताको प्राप्त हुए पृथिवी आदि नाना पदार्थोंका वह (ईश्वर) कर्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् जगत् जब नानास्वभाववान् है तब एक स्वभाववान् ईश्वर उनका कर्ता कदापि सम्भव नहीं है। अत. इन्द्रिय-शरीरादि ईश्वरकृत नहीं हैं । अपितु अपने अपने कर्मबन्धके अनुसार उनकी रचना होती है ।

भावार्थ—नैयायिक और वैशेषिक ईश्वरको जगत्‌का कर्ता मानते हैं परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं है। कारण, ईश्वरको उन्होंने एक ही स्वभाववाला एव अपरिणामी स्वीकार किया है और जगत् नानापरिणमनवाला है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी है । कोई मूर्ख है तो कोई विद्वान् है। कोई निर्धन है तो कोई धनवान् है । कोई सरोग है तो कोई नीरोग है। इस तरह यह विचित्रता सम्पूर्ण जगत्‌में देखी जाती है या यों कहिये कि जगत् ही स्वय इस विचित्रतामय है और ईश्वर सब प्रकारके परिणमनोंसे शून्य है—अनादिनिधन एव सर्वथा कूटस्थ नित्य है। तब बतलाइये, एकस्वभाव ईश्वरसे नानास्वभाववाले इस जगत् का सर्जन कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। एक बात और है वह यह कि लोकमे हम एक कारणसे एक ही कार्यकी उत्पत्ति देखते हैं। यह कौन नहीं जानता कि जौ (यव) बीजसे जौका अंकुर

ही पैदा होता है, धान्यादिका नहीं ? इससे स्पष्ट है कि ईश्वर इस विभिन्न-स्वभावादिवाले जगत्का—पदार्थोंका कर्ता नहीं। कार्यके अनुरूप ही कारण होता है और इसलिये वह कारण प्राणियोंका अपना अपना विभिन्न कर्मबन्ध है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है·—

'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।'—आप्तमी० ६६।

(शार्दूलविक्रीडित)

इच्छा वा नियतेतरा न लभते सम्बन्धमीशेन तत्
कर्मप्राभवतः सुखादिविभवः पर्याप्तमेतेन हि ।
भेत्ता कर्ममहीभृतां सकलविज्ञानादिसिद्धस्ततो
यत्काणाद-हताक्षपादगदित तत्स्यात्कथं श्रेयसे ॥२०॥

पद्यार्थ—यदि यह कहा जाय कि ईश्वरेच्छा जगत्की कर्त्री है—क्योंकि ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेमें उपर्युक्त दोष हैं तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, यह प्रश्न पैदा होता है कि वह इच्छा नियत-नित्य है अथवा अनियत-अनित्य ? यदि नित्य है तो एकस्वभाव ईश्वरकी तरह उसको भी एकस्वभाव होनेसे नाना-स्वभाववाले इस जगत्की वह कर्त्री नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि इच्छा एक कार्य है जो ईश्वरजन्य है तब वह नित्य कैसे ? यदि अनित्य है तो उसका नित्य ईश्वरके साथ सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि ईश्वर तो शश्वत् कर्मोंसे अस्पृष्ट माना गया है और इच्छा कर्मजन्या है। ऐसी स्थितिमें इन दोनोंका सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये सुखादि ऐश्वर्य कर्मजन्य ही मानना

यहाँ उन काल-क्षणोंमें चिरतर अतीत-क्षणोंकी तरह कारण-कार्यभाव नहीं बन सकता है और चूँकि विनाश निरन्वय माना गया है इसलिये उन क्षणोंमें एक वासना भी कैसे बन सकती है? और तब पृथिव्यादिका कर्तापन, भोक्तापन भी कहाँ बन सकता है? अतः सम्यक्त्व-संज्ञादिकको मोक्षका कारण कहनेवाला बुद्ध यथार्थ ज्ञाता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि पदार्थ जब क्षण-क्षणमें निरन्वय विनष्ट होरहे हैं तो उनमें कार्य-कारणभाव, कर्ता-भोक्तापन और सम्यक्त्वादिक मोक्षमार्गोपदेश ये सब कैसे बन सकते हैं? नहीं बन सकते। क्योंकि कारण-क्षण जब नष्ट होजाता है तब कार्यक्षण उत्पन्न होता है। अतः चिरतर अतीत क्षणोंकी तरह उनमें कोई अन्वय न रहनेसे कारण-कार्यभाव नहीं बनता। इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेपर कर्ता दूसरा क्षण होगा और फलभोक्ता अन्य क्षण होगा और ऐसी अवस्थामें 'जो कर्ता है वह भोक्ता है' यह नियम नहीं बन सकेगा। इसी तरह जिस सम्यक्त्वादिकको बुद्धने मोक्षका कारण प्रतिपादन किया था वह तो नष्ट ही होगया—अब नहीं रहा। इस तरह मोक्षके कारणरूपसे प्रतिपादित सम्यक्त्वादिक भी क्षणिकैकान्त-वादी बुद्धके यहाँ सिद्ध नहीं होते।

भावार्थ—बौद्धोंके यहाँ क्षणोंका समुदाय ही वस्तु है और उन भिन्न कालक्षणोंमें वे कार्य-कारणभाव स्थापित करते हैं परन्तु जब इन भिन्नकालवर्ती क्षणोंमें अन्वय(ध्रौव्य)रूप कोई वस्तु विद्यमान नहीं है तब पूर्वक्षण उत्तरक्षणका कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि पूर्वक्षण जब सर्वथा नष्ट हो चुकता है तब उसके अभावमें ही उत्तरक्षण पैदा होता है। अतः चिरतर अतीतक्षण-

की तरह पूर्वक्षण असत् होनेसे कारण नहीं है। यदि यह माना जाय कि अव्यवहित पूर्ववर्ती क्षण उत्तरक्षणमें कारण है तो यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्तीक्षणमें भी अभाव तो समान ही है। और उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य भी नहीं वनता। कारण, पूर्वक्षणके न रहनेपर ही उत्तरक्षण उत्पन्न होता है, जैसे अन्य दूसरी वस्तुएँ अथवा वहुत पहले गुजर चुका क्षण। अतः पूर्वक्षणमे कारणता सिद्ध नहीं होती और जव पूर्वक्षण कारण सिद्ध नहीं हुआ तो उत्तरक्षण उसका कार्य भी सिद्ध नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि अन्वय-व्यतिरेकके होने से पूर्वक्षण कारण और उत्तरक्षण कार्य है तो यह कहना भी सङ्गत नहीं है क्योंकि उनमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही नहीं वनते हैं। जब तक पूर्वक्षण वना रहता है तव तक उत्तरक्षण पैदा नहीं होता—उसके नष्ट होजाने पर ही पीछे होता है। इस लिये पूर्वोत्तरक्षणोंमें न तो अन्वय है और न व्यतिरेक ही है। अतः उनमे कार्य-कारणभाव सर्वथा वनता ही नहीं। यदि उनमें वासना मानो तो वह क्षणोंके अतिरिक्त कोई चीज नहीं है और यदि है तो या तो उसे सवृति—काल्पनिक (मिथ्या) मानना पड़ेगा या एकद्रव्यरूप। सवृति माननेपर तो कार्य-कारणभावका अभाव ज्योंका त्यो अवस्थित है। अर्थात् आकाशके फूलके सदृश होनेसे उसके माननेपर भी कार्य-कारणभाव नहीं बनता। और यदि उसे एकद्रव्यरूप कहो तो यह बौद्धोंके लिये अनिष्ट है। ऐसी स्थितिमें वासनाद्वारा भी क्षणोंमें कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता है। इसी प्रकार क्षणोंमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मोक्षमार्गो-

पदेष्टृत्व आदि गुण भी सिद्ध नहीं होते। और इसलिये बौद्ध-कल्पित क्षणिकता अप्रामाणिक है[1]।

( )

यद्यं[2] सर्वत्र सर्वं प्रकृतिरविकृतिः सप्त तस्या विकाराः
महदाद्याः षोडशोच्चैर्गण इति पुरुषस्तद्विकृत्यप्रयुक्तः।
स्वयमन्यो न प्रभूतिक्रममखिलकलाबन्धहीनस्य जन्तोः
विलपन्मुक्तिः कुतः स्यात्स चपलकपिलो धीमतां दे(ध्ये)य-भावः ॥२२॥

---

१ "*भिन्नकालक्षणानामसम्भवद्वासनत्वादकार्यकारणवत्* । पूर्वमेव चित्तमुत्तरोत्पत्तौ वासना तत्कारणत्वादिति चेन्न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासम्भवात् । तथा हि—*न विनष्टं कारणमसत्वाच्चिरतरातीतवत्* । समनन्तरातीत कारणमिति चेन्न, समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । *न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तदसत्येव हि भावाद्वस्त्वन्तरवदतिक्रान्ततमवद्वा*, यतः पूर्वस्य कारणत्वनिर्णयः स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तर तत्कार्यमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः । *न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत्* । तद्भावे स्वयमभवतस्तदभावे एव भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् ।"—अष्टस० पृ० १८२ ।

२ तुलना—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

—सांख्यकारिका ३, २२

पद्यार्थ—सांख्यमतवालोंका कहना है कि सब पदार्थ सत्र जगह हैं और वे प्रकृतिमय हैं। मूल प्रकृति प्रकृति ही है—केवल दूसरोंकी जनक है विकृति नहीं है—वह दूसरोंसे जन्य नहीं होती और महान् आदि सात तत्त्व उसके विकार हैं—प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं अर्थात् दूसरोंके वे जनक हैं इसलिये वो प्रकृति हैं और मूल प्रकृति आदिसे उत्पन्न होते हैं इसलिये विकृति हैं। और जो सोलह तत्त्वोंका समूह है वह केवल विकृति है अर्थात् वह दूसरोंसे जन्य ही है जनक नहीं है। किन्तु पुरुष प्रकृति और विकृति दोनोंसे रहित है। वह न तो प्रकृति है और न विकृति-विकार है पुष्करपलाश (कमलपत्र)की तरह प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न और निर्लिप्त है उत्पत्तिरहित है तथा सम्पूर्ण कर्तृत्वसे शून्य है और मुक्तिरहित है इस प्रकार कथन करनेवाला चपल कपिल विद्वानोंका आराध्य कैसे हो सकता है? अर्थात् विद्वज्जन उसके इस तरहके अप्रामाणिक तत्त्वोपदेशको कैसे मान सकते हैं और कैसे उसको प्रमाणपुरुषके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं।

भावार्थ—सांख्य पच्चीस तत्त्व मानते हैं:—१ प्रकृति २ महान् (बुद्धि), ३ अहङ्कार सोलहका गण (५ कर्मेन्द्रिय ५ ज्ञानेन्द्रिय १ मन और ५ तन्मात्रायें=१६) और ५ भूत (पृथिवी अप् तेज वायु और आकाश) इस प्रकार प्रकृत्यात्मक २४ तत्त्व और १ प्रकृति-से भिन्न पुरुषतत्त्व (जीवात्मा) इस तरह कुल २५ तत्त्व हैं। उनका कहना है कि प्रकृतिको ही संसार बन्ध और मोक्ष होता है। पुरुषको नहीं। वह तो पूर्णतः शुद्ध है और संसरण आदिसे रहित है, न उसके बन्ध होता है और न मोक्ष। परन्तु उनका यह

समस्त कथन प्रमाणप्रतिपन्न नहीं है। प्रत्यक्षादिसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि पुरुष(आत्मा)को ही बन्धमोक्षादि होते हैं और इसीलिये वह व्रत, नियम, जप-तपादि करता है। प्रकृति तो जड है, उसमें ये सब निरर्थक हैं। अतः सांख्योंकी तत्त्वव्यवस्था भी अयुक्त एव प्रमाणविरुद्ध है।

( )

प्रतिभासे प्रतिभासितार्थविषयं दृश्यं प्रपञ्चे सति
प्रतिबिम्बादि तथा सदेव न हि निष्पर्यायवस्तुस्थितिः।
ननु कस्यादिगतिं रुणद्धि भुवने सिद्धां क्रियाकारक-
प्रकृतिव्युज्झितसाध्यसाधनगतिं ब्रह्मा कथं भासते ॥२३॥

पद्यार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्मके अलावा कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है और जो क्रियाकारकादिका भेदरूप प्रपञ्च प्रतिभासमान हो रहा है वह सब भी ब्रह्म ही है क्योंकि जो प्रतिभासमान होता है वह ब्रह्म है तथा जो प्रतिबिम्ब वगैरह हैं वे भी सद्‌रूप ही हैं। कारण, बिना पर्यायके किसी भी वस्तुका अस्तित्व अथवा अवस्थान नहीं है। परन्तु उनका भी यह कथन लोकविरुद्ध है, क्योंकि लोकमें स्पष्टतः क्रिया-कारकभेद आदि दृष्टिगोचर होता है तब एक अद्वितीय अभेदात्मक उस ब्रह्मका प्रतिभास कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह कि लोकमें जब हमें भेद दिख रहा है तो केवल अभेदका कथन करना निरी जडता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वेदान्तमतकी समालोचना की गई है। वेदान्तियोंका मत है कि यह सब ब्रह्म है नाना कोई वस्तु नहीं है जो नाना प्रतीत होता है वह उसकी ही पर्यायें हैं। परन्तु उनका यह मत संगत नहीं है क्योंकि यदि केवल अद्वैत ब्रह्मरूप ही वस्तु हो तो क्रिया-कारकद्वैत साध्य-साधनद्वैत आदि नहीं बन सकता है और उसके न बननेपर ब्रह्म और उसकी पर्यायें तथा ब्रह्मरूप साध्य और प्रतिभाससामान्यरूप साधनकी व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती है। इसके अलावा, पुण्य-पापरूप कर्मका द्वैत सुखदुःखरूप फलका द्वैत इहलोक-परलोकका द्वैत विद्या-अविद्याका द्वैत तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत अद्वैत ब्रह्मके स्वीकारमें सिद्ध नहीं होता। समन्तभद्रस्वामीने भी कहा है—

कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्ध-मोक्षद्वयं तथा ॥—आप्तमी० २५॥

अपि च ब्रह्मकी सिद्धि न प्रत्यक्षसे होती है न अनुमानसे और न आगमसे। प्रत्यक्षसे करनेपर विधिकी तरह निषेधकी भी प्रतीति होती है जैसे प्रत्यक्षसे टेबिलपर दवात नहीं है पेंसिल नहीं है, कागज नहीं है आदि निषेधज्ञान होता है। यदि अनुमानसे की जाय तो हेतु और साध्यका द्वैत मानना पड़ेगा तब अद्वैतब्रह्म कैसे सिद्ध होगा? यदि हेतुके बिना ही उसकी सिद्धि करें तो केवल कहने मात्रसे द्वैत भी क्यों सिद्ध न हो जाय? यही दोष (द्वैतप्रसङ्ग) आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेमें आता है। कहा भी है—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥—आप्तमी० का० २६॥

इस तरह वेदान्तियोका अभिमत ब्रह्म प्रसिद्ध नहीं होता।

(शिखरिणी)

यदेकं चाऽध्यक्षे मितिरिति च निर्वाच्यमखिलं
तथा तत्त्वं चोपप्लुतमिति विचारं न सहते ।
प्रमाणादन्यस्मात्प्रथितवचनाद् युक्तिभजनात्
विना नैतत्सिद्धिर्विधिनियमयोरर्थनियतेः ॥२४॥

पद्यार्थ—जो अकेले प्रत्यक्षमे ही प्रमा मानते हैं अर्थात् एकमात्र प्रत्यक्षको ही प्रमाण स्वीकार करते हैं अनुमानादिको नहीं, और जो सम्पूर्ण वस्तुको अनिर्वचनीय कहते हैं तथा जो तत्त्वका अपलाप करते हैं—न प्रमाणतत्त्वको मानते हैं और न प्रमाणके विषयभूत प्रमेयतत्त्वको स्वीकार करते हैं उन सबका यह कथन विचार करनेपर स्थिर नहीं रहता है, क्योंकि प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अनुमान और आगमादि प्रमाणोंको माने विना उनका वह तत्त्व-निरूपण सिद्ध नहीं होता। कारण, पदार्थमें विधि और निषेध दोनों नियत हैं।

भावार्थ—प्रत्यक्ष केवल विधिको ही विषय करता है—निषेधको नहीं। अतः अनुमानादिका निषेध करने, तत्त्वको अवक्तव्य बतलाने और तत्त्वका उपप्लव—अपलाप करनेके लिये उसके अलावा अनुमानादि प्रमाण मानने होंगे और उस हालतमें चार्वाक या ब्रह्माद्वैतवादी अथवा तत्त्वोपप्लववादी जो असिद्ध करना चाहेंगे वह ही सिद्ध हो जायगा उनके इष्ट एक प्रत्यक्ष

है। अर्थात् सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ एक ही वस्तु, भाव और अभाव, एक और अनेक, भिन्न और अभिन्न तथा नित्य और अनित्य दोनों रूप नहीं बन सकती है। परन्तु आपके मतमें कथञ्चित्का स्वीकार होनेसे कथञ्चित् भाव और कथञ्चित् अभाव, कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक, कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न तथा कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्यरूप वृत्ति मानी गई है इसलिये आपके यहाँ कथञ्चिदनेकान्तकी सिद्धि हो जाती है एकान्तियोंके यहाँ सिद्ध नही होती।

भावार्थ—एक देवदत्तको लीजिये वह भावाभावादिरूप अनेक धर्मोंका पिण्ड है। देवदत्त अपनी अपेक्षा देवदत्त है जिन-दत्तकी अपेक्षा देवदत्त नहीं है इस तरह वह अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) दोनोरूप है। इसी तरह वह एक है देवदत्त द्रव्यकी अपेक्षा और अनेक भी है उसकी अपनी पर्यायों अवस्थाओं या धर्मोंकी अपेक्षा। इस प्रकार देवदत्त एक और अनेक भी है। इसी तरह उसमें नित्यता और अनित्यता भो व्याप रही है। ये सब धर्म उसमे तभी सिद्ध हो सकते है जब स्यात् (कथञ्चित्—अपेक्षा) की मान्यताको अपनाया जाय। अगर देवदत्त सब अपेक्षाओसे अस्तिरूप ही हो तो उसमे नास्तित्वादि दूसरे धर्म अवस्थान नही पा सकते है। अतएव स्याद्वादी जैनोंके यहाँ तो अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है लेकिन सर्वथैकान्तवादी दूसरोके यहाँ वह सिद्ध नहीं होती। यही इस पद्यमें कहा गया है।

(मन्दाक्रान्ता)

एषोच्चैर्वाक् तव शिवपदाप्राप्ति-निःश्रेणि-भूता
धीमद्धयेया जगति जनताऽऽनन्द-सन्दान-धीरा।

भावार्थ—स्यात्पदसे लाञ्छित और अनेकान्तकी द्योतक भगवान पार्श्वकी दिव्य-वाणी मुमुक्षुओंको मोक्षप्राप्तिके लिये सीढी जैसी है। जिस प्रकार सीढीपरसे अपने उच्च मकानमें पहुँचा जाता है उसी प्रकार स्याद्वादरूप अनेकान्तवाणीके सहारेसे मोक्ष-महलमें पहुँचा जाता है। अतएव यह विवेकियोंद्वारा ग्रहण की जाती है और जनता उसे प्राप्तकर महान् आनन्दको प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक सबसे बडी विशेषता यह है कि यह

उनके लिये भी अपना द्वार खुला रखती है जो कपिलादि एकान्त-वादियोंके उपदेश सुननेमें ही सदैव तत्पर रहे हैं या रहते हैं और जिससे उन्हें संसार-परिभ्रमणका भय ही प्राप्त हुआ है—उससे उनका कोई हित-साधन नहीं हुआ है। अतः हे पार्श्व! आपका उपदेश अशेष प्राणियोंका कल्याणकर्ता है। तात्पर्य यह कि जो आपके मतके विरोधी या निन्दक हैं उनके लिये भी आपका उपदेश हितकर है।

( )

विदधदतिशयममित-मति-मुनिनाथ-मान्यमनन्यभाङ्
नमित-सुर-रवि-भुवन-परगुरु-तीर्थकृत्त्व-सनामयत् ।
उदय-पथ-गत-तदनु-विसृतिरशेष-तत्व-विभासिनी
जयति जिन जिन विजित-मनसिज भारती तव भासुरा ॥२७

पदार्थ—हे कामदेवविजयिन्! पार्श्वजिन! विशालबुद्धिके धारी गणधरदेवोंद्वारा भी माननीय, अपरिमित (अनन्त) अति-शयोंको प्रकट करनेवाली और देव, सूर्य तथा समस्त लोकद्वारा वन्दनीय महान् तीर्थङ्करपनेको घोषित करती हुई परमोत्कर्षको प्राप्त होकर जगतमें विस्तृत हुई एवं सम्पूर्ण तत्त्वोंका विशद प्रकाश करनेवाली आपकी वह ज्योतिर्मय दिव्यवाणी जयवन्त हो—लोकमें सबका हित करती हुई हमेशा विराजमान रहे।

भावार्थ—भगवानका वह अनेकान्तमय उपदेश, जो सभी प्राणियोंका हितकारक है, वस्तुस्वरूपका यथार्थ व्यवस्थापक है,

अनन्त अतिशयोंका विधायक है तीर्थंकरत्वका उद्योतक है और चरम उत्कर्षको प्राप्त है इस लोकमें सदैव स्थिर रहे और अपने उज्ज्वल प्रकाशद्वारा भव्योंके हितमार्गका प्रदर्शन करता रहे।

( )

जय जय जगती-नत-श्रीपद श्रीपुरी-निलय
नियत-भास्यतारुण्य-कारुण्य-पुण्याकर (?)।
परमपुरुष पार्श्वनाथाधिनाथामनाथाहस
विनतवर दमाभिरक्षाज रक्षाद्य रक्षाक्षय ॥२८॥

पद्यार्थ—हे त्रिलोकपूजित! मोक्षस्थानमें विराजमान अथवा श्रीपुरीके जिनालयमें स्थित पार्श्वनाथ! आपकी जय जय। आप तरुण सूर्यके सदृश प्रकाश और करुणा तथा पुण्यके भण्डार हैं। आप परमपुरुष हैं—पुरुषोत्तम हैं। हे स्वामिन्! आप सबमें श्रेष्ठ हैं जो आपको भक्तिभावपूर्वक नमस्कार करता है उसे यथेष्ट वर प्रदान करनेवाले हैं। हे जितेन्द्रिय! आप इन्द्रियनिग्रह-की रक्षा करनेवाले हैं। हे पुनर्जन्मसे रहित अविनाशी पार्श्वप्रभु! आज हमारी रक्षा करो हमारी रक्षा करो। हम आपकी शरणको प्राप्त हुए हैं। अर्थात् हमें ऐसे बल-बुद्धि प्राप्त हों कि संसारके जन्म-मरण आदि दुःखोंसे मुक्त होकर हम भी अविनाशी मोक्षपद-को प्राप्त करें।

भावार्थ—इस पद्यमें सभी विशेषण भगवान पार्श्वनाथके सम्बोधनात्मक हैं। इन सबका अभिधेय यही है कि भगवान्

पार्श्वनाथ अजर, अमर एवं अक्षय हैं और अनन्त सुखादि गुणोंके भण्डार हैं उनका आश्रय लेनेसे भव्योंका कल्याण होता है और इसीलिये मैंने भी आज आपका आश्रय लिया है तथा गुणकीर्तन कर रहा हूँ।

(शिखरिणी)

शरण्यं नाथाऽर्हन् भव भव भवारण्य-विगति-
च्युतानामस्माकं निरवकर-कारुण्य-निलय ।
यतोऽगण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्यं तव पदम्
परिप्राप्ता भक्त्या वयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम् ॥२९॥

पद्यार्थ—हे नाथ ! अर्हन् ! आप संसाररूपी वनमें बुरी तरहसे भटक रहे हम संसारियोंके शरण होवें, अवश्य ही होवें—हमें अपना आश्रय प्रदान करके संसार-परिभ्रमणसे मुक्त करें, क्योंकि आप पूर्णतया करुणाके निधान हैं—दयालु हैं। हम आपके चरणोंकी चिरकालसे अपेक्षा कर रहे थे, आज बड़े (अगणित) पुण्योदयसे मोक्षलक्ष्मीके स्थानभूत आपके इन चरणोंको भक्तिपूर्वक प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—श्रीविद्यानन्दस्वामी जब सुप्रसिद्ध श्रीपुरके पार्श्वनाथमन्दिरमें प्रतिष्ठित भगवान् पार्श्वनाथकी अतिशयोपपन्न भव्यमूर्तिकी वन्दनाके लिये गये तब उसे लक्ष्यकर भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति कर चुकनेके अन्तमें वे अपनी भक्तिका अपूर्व प्रवाह बहाते हुए कहते हैं—हे पार्श्वनाथ ! भगवन् ! आपने जन्मपरम्परारूप

संसारका सर्वथा मूलोच्छेदन कर दिया है और परात्मपदको प्रा
कर लिया है इसलिये आप हमे अपनी शरण दीजिये—हमार
जन्मपरम्पराका भी नाश करके अपना जैसा ही बनाइये, क्योंकि
हे कारुण्यनिलय ! आज बडे पुण्यकर्म (सौभाग्य)से आपके इ
चिरकालसे अपेक्षणीय अचललक्ष्मी (मोक्ष)के कारणभूत चरणोंक
आश्रय हमने भक्तिके साथ प्राप्तकर लिया है। वैसे ही आपका गुण
स्मरण, गुणकीर्तन आदि भव्योंके भव बन्धनको काटनेवाला होत

तस्मात्स्तोत्रमिदं सुरत्नमिव यद्यत्नाद् गृहीतं मया
विद्यानन्द-महोदयाय नियतं धीमद्भिरासेव्यताम् ॥३०॥

पद्यार्थ—इन (उपर्युक्त २९) पद्योंद्वारा श्रीपुरस्थ भ० पार्श्वनाथके देदीप्यमान माहात्म्यसे पुष्ट होता हुआ वह अमृत-समुद्र सुस्पष्ट वचन-पद्धतिको चतुराईसे निदर्शित किया गया है जिससे मैंने सुरत्नकी तरह इस स्तोत्रको ग्रहण किया है और जो निश्चितरूपसे विद्या (ज्ञान) तथा आनन्द (सुख)के महान् उदय (विकास)का, मुझ विद्यानन्दके महान् उदयरूप विकासका अथवा (मेरे द्वारा) 'विद्यानन्दमहोदय' नामक ग्रन्थके रचे जानेका प्रधान कारण है। चूँकि मैंने उस विद्यानन्द-महोदयकारक अमृत-समुद्रसे इस स्तोत्ररत्नको बड़े यत्नसे—बड़ी युक्तिके साथ—उद्धृत किया है—निकाला है और यह भी (उसीका एक सार-अंश होनेसे) विद्या तथा आनन्दके महान् उदय एवं विकासके लिये निश्चितरूपसे कारण है अतः विद्वानोंके द्वारा यह सब प्रकारसे सेवनीय है—विवेकी जनोंको इसे पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने एवं प्रचार-प्रसारके द्वारा अपनाना चाहिये अथवा अपने कण्ठका आभूषण बनाकर सदा ही इससे ज्ञान तथा आनन्दकी प्राप्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—इस पद्यमें जिस अमृत-समुद्रका उल्लेख किया गया है और जिसमेंसे इस स्तोत्रको सुरत्नकी तरह उद्धृत करनेकी घोषणा की गई है वह स्वामी समन्तभद्रका अनुपम 'देवागम' (आप्तमीमांसा) स्तोत्र है, जैसाकि अनेक पद्योंको तुलनामें दिये हुए उसके उद्धरणोंपरसे स्पष्ट है और देवागमके अभ्यासी विद्वज्जन तो प्रस्तुत स्तोत्रको पढ़ते हुए सहज ही इस विषयका

मिथ्यामार्गपर आरूढ थे। आज इस देवागमस्तोत्रके प्रसादसे उनका भ्रम मिटा है उन्हें यथार्थ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है और सम्यक्मार्ग सूझ पडा है। और इसलिये वे जैनधर्ममें दीक्षित होनेका विचार करने लगे। यद्यपि उक्त स्तोत्रपरसे तात्त्विक विषयोंमे उनका सब कुछ समाधान होगया था, परन्तु अनुमानके लक्षण-विषयमें कुछ सन्देह चल रहा था। एक दिन वे उसी लक्षणकी उलझनको सुलझानेका प्रयत्न करते-करते सो गये। निद्रावस्थामें उन्हें एक दिव्य स्वप्न दिखाई दिया और उसके द्वारा यह सूचना मिली कि 'कल प्रातःकाल श्रीपार्श्वनाथका दर्शन करते समय तुम्हारा यह सब सन्देह दूर हो जायगा'। प्रातः उठते ही पात्रकेसरीजी बड़े उत्साहके साथ श्रीपार्श्वनाथके मन्दिर पहुँचे। वहाँ पार्श्वप्रभुकी मूर्तिपर दृष्टि पडते ही उन्हें उसके ऊपरी फणा-भागपर एक श्लोक अङ्कित दीख पडा, जो इस प्रकार था—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥"

इस श्लोकपर गम्भीरताके साथ विचार करते ही पात्रकेसरीजीकी सारी उलझन सुलझ गई, देवागमके तत्त्वोपदेशपर उनकी श्रद्धा और भी दृढ होगई और वे जैनधर्ममे दीक्षित होकर दिगम्बर मुनिका जीवन व्यतीत करने लगे। इससे देवागमकी ख्याति और प्रसिद्धि बहुत हुई, विद्वज्जन उसके लिये लालायित हो उठे और उसका सर्वत्र प्रचार तथा प्रसार होने लगा। इसी बातको 'माहात्म्य-पुष्यत्' शब्दोंके द्वारा सूचित किया गया है। अकलङ्कदेवने देवागमको, उसपर 'अष्टशती' नामक भाष्य लिखते